कृष्णचन्द्र

काँटे

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट
दिल्ली

प्रथम संस्करण

मूल्य : तीन रुपया

अनुवादक

बालकृष्ण, एम. ए.

युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, देहली में मुद्रित

विषय-सूची

कला और साहित्य की आधार-शिला

१.

जीवन का सम्बन्ध साहित्य और कला से है या नहीं ?—इस बात के उत्तर के लिये हमें सब से पहले इतिहास का अध्ययन करना चाहिये। हमें इस बात का पता लगाना चाहिये कि आरम्भ में कला और साहित्य की उत्पत्ति कैसे हुई और जीवन में इनका क्या स्थान तथा महत्त्व था। इन बातों के अध्ययन से हमारे प्रश्न का काफ़ी उत्तर प्राप्त हो जाएगा। जिन समितियों और वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में खोज की है उनकी यह धारणा है कि कला और साहित्य का सम्बन्ध सीधे तौर पर जीवन और समाज से रहा है, और ये तथा अन्य ललित कलाएं जीवन के दैनिक कार्यों से उत्पन्न हुई हैं। कला और साहित्य आकाश से नहीं आए हैं, वरन् पृथ्वी के निवासियों की दैनिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उनका सृजन हुआ है।

कुछ लोगों का विचार है कि कला और साहित्य के सृजन की प्रेरक-शक्ति केवल-मात्र जिन्स है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। मनुष्य की कई और आवश्यकताएं भी साहित्य और कला के सृजन के लिये जिम्मेदार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ललित कलाओं के विस्तार और विकास में जिन्स का बहुत हाथ है, परन्तु इस से भी अधिक हाथ मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं का रहा है।

मैं पहले पशु-पक्षियों को लेता हूँ, जिन्हें देखकर मनुष्य ने बहुत कुछ सीखा है। सब से पहले नृत्य कला को लीजिये। अनेक पौराणिक और साहित्यिक गाथाओं में नृत्य-कला अप्सराओं से उत्पन्न हुई बतलाई गई है। कहा जाता है कि अप्सराओं ने पृथ्वी की ललनाओं को नृत्य की सुन्दर मुद्राएं सिखाईं। यह तो हुईं गाथाओं की बातें। अब उनकी बातें सुनिये जिन्होंने इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से छान-बीन की है।

आप ने मोर को देखा ही होगा। कितना सुन्दर पक्षी है! और शायद आप यह भी जानते हैं कि मोर किसी अप्सरा को देखकर नहीं नाचता वरन् अपनी मोरनी को दिखाने के लिये अपने पंख फैलाकर नाचता है। ऐसा नहीं है कि आपने मोर से कहा, 'मोर, नाच कर दिखाओ' और मोर ने पाँव में घुंघरू बांध लिये और नाचना शुरू कर दिया। ऐसा तो मनुष्यों ने बाद में किया और इस के मूल में उनकी आर्थिक आवश्यकताएं थीं। परन्तु इसका प्रारम्भ एक जिन्सी आवश्यकता के रूप में हुआ। जिस तरह मोर

नाचता है उस तरह बहुत से आदिम जातियों के पुरुष आज भी नाचते हैं। परमात्मा ने उन्हें सुन्दर पंख नहीं दिये इसलिये वे सुन्दर पक्षियों के पंख नोचकर अपने सिर पर और शरीर पर बांध लेते हैं और अपनी प्रेयसियों को रिझाने के लिये नाचना शुरू कर देते हैं।

यह तो नृत्य की केवल एक विवेचना है। परन्तु इस कला की उत्पत्ति के लिये अन्य कई मानवी आवश्यकताएं भी जिम्मेदार हैं। जब गर्मी बहुत पड़ने लगती है तो मनुष्यों की तो बात ही क्या, पशु तक हाँपने लगते हैं और छाया और ठंडक की जगह ढूंढ़ते रहते हैं। चिड़ियाँ चोंच खोलकर हाँपती हैं। फिर जब खुलकर वर्षा होती है तो बहुत सी चिड़ियाँ मिलकर पानी में नाचने और धरती पर लोटने लगती हैं। यहाँ नृत्य किसी जिन्सी आवश्यकता के कारण नहीं होता, वरन् शरीर की दूसरी आवश्यकता के कारण होता है। दूसरे शब्दों में इस नृत्य की प्रेरक-शक्ति अपने जीवन की सुरक्षा की भावना है। जब तापमान इतना बढ़ जाता है कि मनुष्य को उससे कष्ट होने लगता है तो वह उस कष्ट से छूटने का मार्ग ढूंढ़ता है। जब वर्षा हो जाती है तो वह आनन्द-विभोर होकर नाचने लगता है। आज भी योरुप में स्त्रियां और पुरुष पहली वर्षा के दिन चिड़ियों की भाँति नाचते हैं। अब इससे आगे चलिये। जब मनुष्य को शिकार मिल जाता है तो वह नाचता है। फिर जब वह खेती-बाड़ी करना सीख जाता है और खेती के लिये वर्षा की प्रतीक्षा होती है तो

वह वर्षा होने पर नाचता है। आज भी यदि आप किसानों के जीवन का अध्ययन करें तो आपको पता चलेगा कि उनके नाच और लोकगीत उनके दैनिक जीवन और कार्य-क्रम के साथ गुथे हुए हैं। जीवन को कला और साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार नृत्य-कला का प्रारम्भ पशु-जगत् से हुआ, इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि भवन-निर्माण कला को भी मनुष्य ने पशु-पक्षियों से सीखा। अन्तर केवल इतना है कि चूँकि मनुष्य ने पशुओं की अपेक्षा बहुत उन्नति कर ली इसलिये वह इस कला को भी बहुत ऊँचे ले गया। परन्तु इस कला का प्रारम्भ भी मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत से होता है। ऐसा नहीं है कि विश्वकर्मा स्वर्ग से आये और उन्होंने मनुष्य को भवन-निर्माण कला सिखाई। यदि मनुष्य को विश्वकर्मा ने यह कला सिखाई तो फिर अबाबील को किसने भवन-निर्माण कला सिखाई, बैये को किसने घोंसला बनाना सिखाया, किसने शहद की मक्खी को इतना सुन्दर ढंग का छत्ता बनाना सिखाया और किसने च्यूंटी को धरती के भीतर इतने सुन्दर तहखाने बनाने की विद्या सिखाई? ये सुन्दर चीजें इन पशु-पक्षियों ने अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आविष्कृत कीं। इस कला के आविर्भाव में केवल जिन्स ही कारण नहीं है, वरन् अन्य आवश्यकताएँ भी कार्य करती रही हैं—जैसे, चिड़िया और चिड़े को रात बसर करने के लिये एक घोंसला चाहिये था—ऐसा घोंसला

जिसमें बच्चे सुरक्षित रह सकें। च्यूंटी ऋतु-परिवर्तन के कारण अपने अन्न के भंडार को सुरक्षित रखना चाहती थी। शहद की मक्खी को शहद इकट्ठा करना था, इसलिये उसे छत्ता बनाना पड़ा। इसी प्रकार दैनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मनुष्य पहले गुफाओं में रहा। उस समय वह च्यूँटी की भाँति धरती के नीचे रहता था। फिर उसने पक्षियों के घौंसले देखकर वृक्षों पर अपना निवास-स्थान बनाना प्रारम्भ किया। उसके बाद वह धरती पर मकान बनाने लगा। इसी आवश्यकता के कारण भवन-निर्माण कला का विकास होता चला गया। और आज यह कला इतनी उन्नत हो गई है कि मनुष्य यह भूल गया है कि इसका प्रारम्भ कैसे हुआ।

इसी प्रकार संगीत और भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोनों कलाओं का सम्बन्ध आवाज़ से है; और आवाज़ मनुष्य के कंठ में ही नहीं होती, पशु-पक्षियों के कंठ में भी होती है। पशु-पक्षी अपनी आवाज़ से विभिन्न प्रकार के काम लेते हैं। शेर अपने शिकार को डराने के लिये, अर्थात् अपना पेट भरने के लिये दहाड़ता है, चिड़िया दाना देखकर चहकती है और अपने साथी को बुलाती है। एक कौवा माँस का टुकड़ा देखकर काँव-काँव करता है तो दर्जनों कौवे क्षणभर में इकट्ठे हो जाते हैं। यही हाल बन्दरों तथा अन्य पशुओं का है। परन्तु पशु-पक्षियों और मनुष्यों में यह अन्तर है कि पशु-पक्षियों के पास केवल दो-चार बोलियों से अधिक आवाजें नहीं होतीं जिनसे वे अपना सारा

काम निकालते हैं। अनुमान लगाया गया है कि आदि काल में मनुष्य के पास भी ऐसी ही बोलियों का एक समूह था। अपने परिश्रम और बौद्धिक-शक्ति से उसने अपनी प्राकृतिक अवस्था पर विजय प्राप्त करके उस समूह को वह बढ़ाता रहा। ज्यों-ज्यों वह अन्य मनुष्यों के साथ अधिकाधिक मिलकर काम करने लगा, उसकी बोली और उसका संगीत विकसित एवं विस्तृत होने लगे। जैसे-जैसे उसका सामाजिक जीवन उन्नत होता गया, उसकी भाषा निखरती गई—उसमें नई-नई आवाजें सम्मिलित होती गईं। आवाजों से शब्द बने और फिर मनुष्य के ज्ञान के भँडार को सुरक्षित रखने के लिये लिपि का आविष्कार हुआ। लिपि प्रारम्भ तो चित्रों से हुई, परन्तु बाद में उसने आधुनिक अक्षरों के रूप धारण कर लिये। फिर भौगोलिक परिस्थितियों की विभिन्नता तथा अन्य कई कारणों से भिन्न-भिन्न भाषाओं का आविर्भाव और विकास हुआ। वास्तव में "पवित्र से पवित्र" और "देवताओं की भाषाओं" का विकास भी मनुष्य की दैनिक और बुनियादी आवश्यकताओं के कारण हुआ है। अर्थात्, भाषा को जीवन ने स्वयं उत्पन्न किया है। इसका सीधा सम्बन्ध जीवन से है। यदि जीवन न होता और जीवन की पालन-पोषण सम्बन्धी अथवा आर्थिक आवश्यकताएँ न होतीं तो भाषा की भी उत्पत्ति न होती और न ही संगीत का आविर्भाव होता। बाद में इन शाखाओं से और शाखाएँ निकलीं। नृत्य और संगीत के साथ ढोल की आवश्यकता का अनुभव हुआ ताकि लोग इकट्ठे किये जा सकें। संकट की

सूचना देने के लिये भी ढोल की आवश्यकता थी। जंगलों में ढोल का प्रयोग आज भी ढोलक से भिन्न है। परन्तु ढोलक का मूल स्रोत वही ढोल है जिसका प्रारम्भ जीवन की एक मूल आवश्यकता के कारण हुआ। बाद में संगीत का विकास और कई तरह से हुआ और आज तो उसका रूप ही बदल गया है। बुलबुल के पास एक ही धुन है, परन्तु मनुष्य जाति का संगीत बहुत उन्नति कर चुका है। फिर भी हमें इसकी उत्पत्ति और विकास की कहानी को नहीं भूलना चाहिये। हमें यह याद रखना चाहिये कि इसका मूल स्रोत मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता है।

इसी प्रकार चित्र-कला को लीजिये। रविवर्मा और चग़ताई के उत्कृष्ट चित्रों को देखकर सोचना चाहिये कि मनुष्य को यह कौशल और हस्त-लाघव कितने घोर परिश्रम के बाद प्राप्त हुए हैं। परन्तु इस कला का सम्बंध भी जीवन और उसकी बुनियादी आवश्यकताओं के साथ है। आज चाहे लोग यह कह दें (और उनमें स्वयं बहुत से चित्रकार भी सम्मिलित हैं) कि चित्र-कला का प्रारम्भ जिन्स से हुआ है, परन्तु वास्तव में इस कला की उत्पत्ति भी जीवन की आधार भूत आवश्यकता अर्थात् पेट भरने, और शरीर को गरम रखने से हुई है।

आदि युग में जब मनुष्य गुफाओं में रहता था तो अपने शिकार के शरीर को याद रखने के लिये उसका चित्र उतारने का विचार उसके मन में उत्पन्न हुआ—कि शिकार के शरीर के किस भाग पर और किस तरह पत्थर के अस्त्र से ऐसा वार किया जाए

कि शिकार हाथ लग जाए। आज भी सहस्रों वर्ष पूर्व के मनुष्य की रिहायशी गुफाओं की दीवारों पर जंगली पशुओं के चित्र बने हुए मिलते हैं। हिरन, घोड़ों और गायों के ये प्रारम्भिक चित्र बहुत भौंडे हैं, परन्तु वह जैसे-जैसे अभ्यास करता गया उसका हाथ साफ़ होता चला गया। कुछ समय के बाद के चित्र आश्चर्यजनक रूप में सुन्दर और सजीव हैं। पहले केवल रूप-रेखाएं बनती थीं, बाद में उनमें रंग भरा जाने लगा और धीरे २ चित्र उभरते चले गए। यह है चित्र-कला का प्रारम्भ, जिसका सम्बंध मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता, अर्थात् खाने-पीने, से है। धीरे २ उसमें सैंकड़ों बारीकियां पैदा की गईं। परन्तु चित्र-कला का स्रोत वही है जो अन्य कलाओं का है—अर्थात् जीवन की बुनियादी आवश्यकता। और अपनी उत्कृष्टता पर पहुँचकर भी यह कला जीवन से अलग नहीं हो सकती।

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि कला और साहित्य की नींव जीवन में कितनी गहरी गई हुई है। कला के सब विभिन्न रूप जीवन के ऊपर आश्रित और आधारित हैं, जीवन ही उनका स्रोत है, और वे कभी जीवन-क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते। ऐसा सोचना भी भूल है। और जिन लोगों और कलाकारों ने ऐसा सोचा भी है वे सिवाय कोरी, निराधार कल्पना के और कुछ भी निर्माण नहीं कर सके। दूसरे शब्दों में अनेकों प्रयत्नों के बाद भी वे हमें यह नहीं बता सके कि जीवन से सम्बंध तोड़कर, जीवन से परे हटकर वे क्या निर्माण कर सकते हैं।

जब जीवन और कला तथा साहित्य का सम्बंध इतना गहरा और अटूट है तो इस सम्बंध को तोड़ने का प्रयत्न केवल मात्र मूर्खता होगी। ऐसा प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। अधिक से अधिक यह होता है कि कलाकार अपनी भूल-भुलैयों में स्वयं फँस जाता है और कला का सत्यानाश कर देता है। इस तरह कला और साहित्य में समालोचना का प्रारम्भ होता है जिससे अच्छाई और बुराई के भेद का पता लगता है। जो अच्छे कलाकार और साहित्यकार हैं, जो जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को समझते हैं और समाज की सामूहिक आवश्यकताओं को अपने ध्यान में रखते हैं; वे उन शक्तियों और आन्दोलनों का साथ देते हैं जो जीवन को एक ऊँचे स्तर पर ले जाने वाले होते हैं। जो कलाकार और साहित्यकार ऐसा नहीं करते वे या तो पहले स्तर पर रह जाते हैं, और या अपनी कला और अपने साहित्य को समाप्त कर डालते हैं। जीवन तो एक सीढ़ी है जिसपर कला और साहित्य को एक-एक पग ऊपर चढ़ना है, और इस सीढ़ी का अन्तिम छोर आज तक किसी ने नहीं देखा।

स्वतंत्रता का अर्थ

२.

साथियो ! पिछले वर्ष जुलाई के महीने में आप के निमंत्रण पर मैं यहां आया था। उस समय भी आपको स्वाधीनता न मिली थी। आज एक वर्ष के पश्चात् फिर मैं आपके बुलावे पर यहां उपस्थित हुआ हूँ। परन्तु इस वर्ष में बहुत कुछ हुआ है। और चाहे जो कुछ हुआ हो, सब से बड़ी बात यह हुई है कि आप लोगों को स्वतन्त्रता मिल गई है। जैसा कि मैं आपके हरे-भरे चेहरों, जगमगाती मुस्कराहटों और सुन्दर वस्त्रों से देख रहा हूँ कि आपको स्वतन्त्रता मिल गई है। अहमदाबाद की सारी मिलें, मिलों में काम करने वालों और उन्हें चलाने वालों को मिल गई हैं। गुजरात की जमीनें किसानों को मिल गई हैं और गुजरात के अठारह हजार जागीरदारों को बेदखल कर दिया गया है। क्योंकि गांधीजी के शब्दों में जो वर्ग दूसरे मनुष्यों के परिश्रम

पर जीता है उसका समाप्त हो जाना ही अच्छा है। इस प्रकार मजदूरों को मिलें मिल गई हैं, किसानों को जमीनें, विद्यार्थियों को स्कूल और कालेज मिल गये हैं। उनकी फीसें तो बम्बई में दुगुनी हो गई हैं किन्तु सुना है यहाँ बिल्कुल मुआफ़ हो गई हैं। मैं देख रहा हूँ कि स्वाधीनता आ जाने से आप लोग बड़े मजे में हैं। मुझे सेक्रेट्री ने बताया कि पिछले वर्ष जहां हमारा जल्सा हुआ था इस बार हमें वह हॉल नहीं मिला। एक अनाथालय बड़ी कठिनाई से, बड़ी विनय-याचना के बाद प्राप्त हुआ। और यदि स्वाधीनता का यही चलन रहा तो अगले वर्ष यह अनाथालय भी नहीं मिलेगा और हमें अपने जल्से खुले खेतों तथा मजदूरों की बस्तियों में करने पड़ेंगे। कम से कम मैं तो इसे बहुत अच्छा समझूंगा। और किसी तरह न सही, इसी तरह सही, लेखक लोग इधर आपकी ओर ढकेले जा रहे हैं। जो साहित्यकार इस समय जनता के लिए लिखता है उसके लिए भी ऊपर के लोगों के सारे द्वार बन्द हो रहे हैं। यह अच्छा है। फिर वह अपने भाई बन्धुओं में आ जायेगा। फिर उसे ज्ञात होगा कि जिन लोगों के मध्य वह अब तक भटकता रहा, वे यूँ तो बड़े अच्छे कपड़े पहनने वाले थे, मोटरों में सैर करने वाले थे, बैंकों और मिलों, समाचार-पत्रों और कई एक सिनेमाओं के मालिक थे, किन्तु उनके हृदय में मानवता की अग्नि भर चुकी थी। काले बाजार के रुपये ने उन्हें अन्धा कर दिया और अब वे इस आलोक को नहीं देख सकते जो मजदूरों की चौलों और किसानों की झोंपड़ियों

से फूट रहा है। यह ज्वाला जो धरती से उठकर आकाश की ओर जा रही है और सारे संसार में एक लाल मधुर गीत की भांति गूँजती, फैलती, भड़कती जा रही है, इस लौ-रूपी संगीत को रुपये की आँख नहीं देख सकती। इसे वे लेखक भी नहीं देख सकते जो जनता से कटकर पृथक् हो गये हैं, जिन्होंने जीवन से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है और मरने वाले समाज का साथ दे रहे हैं। इसे केवल आप जानते हैं और आप से स्नेह करने वाले साहित्यिक जानते हैं।

साथियो! मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो यह कहते हैं कि १५ अगस्त के बाद भारतवर्ष में स्वाधीनता नहीं आई। भारतवर्ष में अवश्य स्वाधीनता आई है और इसका सब से बड़ा कारण यह है कि जिस दिन यह स्वाधीनता आई उस दिन मैं स्वयं भारत के सब से बड़े नगर बम्बई में विद्यमान था और मैंने स्वयं बम्बई में इस स्वाधीनता को आते हुए देखा। बम्बई के सारे बड़े-बड़े बाजार स्वतन्त्रता के दीपों से जगमगा रहे थे। ट्रामें, बसें और रेलगाड़ियां भी स्वाधीनता की पताकाओं से सजी थीं और बम्बई के बड़े-बड़े भवन, मिलें, कारखाने, सिनेमाघर और वेश्याओं के बाजार रंग-बिरंगी रोशनियों से जगमगा रहे थे। सारी बम्बई ताज होटल और ग्रीन होटल तथा गेट-वे आफ इण्डिया की ओर उमड़ती चली जा रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि सारे देश की स्वाधीनता इन दोनों होटलों के भीतर नाच रही है और सुरा-पान कर रही है और गीत गा रही है और दूसरी ओर मैंने देखा

कि मदनपुरा के मजदूरों की बस्तियों में अन्धकार था और मदनपुरा में अन्धकार था। दादर में टाटा मिल की चिमनी तक बिजली के हण्डे लगे हुए थे किन्तु टाटा मिल की चौलों में अंधेरा था। स्पष्ट है, कि मिल की चिमनी में मजदूर नहीं रह सकते। नहीं तो शायद मिल के स्वामी वहाँ पर भी बिजली के हण्डे न लगाते। और सहसा मुझे ऐसा लगा कि देश में स्वाधीनता तो आ गई है परन्तु यह स्वाधीनता ताज, ग्रीन होटल, टाटा मिल और शेयर बाजार की स्वाधीनता है। यह स्वतन्त्रता उस मजदूर की स्वतन्त्रता नहीं है जो टाटा मिल में काम करता है, जो ग्रीन होटल का बैरा है, जो शेयर बाजार का भँगी है, जो हल चलाने वाला किसान है, जो लेखनी से लिखने वाला साहित्यिक है। पन्द्रह अगस्त के दिन मैंने देखा कि प्रत्येक बड़ी कोठी और भवन का सामने वाला भाग सजा हुआ है और शेष तीनों ओर दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे अन्धेरा ही अन्धेरा है। यह पूँजीपतियों के समाज की विशेष पहचान है। इस समाज के केवल सामने का भाग सजा होता है। शेष सब ओर अन्धेरा ही अन्धेरा होता है।

यह अंधेरी स्वतन्त्रता हम ने समझौता करके मोल ली है। हम से अभिप्राय आप से और मुझ से नहीं है। स्पष्ट है कि समझौते के समय हम से और आप से तो पूछा नहीं गया। यह हमारे बड़े-बड़े नेताओं के समझौते का परिणाम है कि यूँ स्वाधीनता मिली; यूँ देश विभक्त होगया; यूँ देश भर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा फैला; यूँ नग्न माताओं और बहनों के जुलूस

निकले और बच्चों को तेल के कड़ाहों में डालकर उबाला गया। विदित है कि नेताओं को समझौता करते समय इन बातों का ज्ञान नहीं था। इसलिये क्या यह अच्छा न होता कि वे ऐसा समझौता करते समय हम से पूछ लेते ? अभी पिछले दिनों लन्दन में लार्ड माउण्टबेटन ने अपने एक वक्तव्य में बताया कि भारत के बटवारे के समय उनकी राय थी कि भारत की जनता से इसके सम्बन्ध में पूछ लिया जाए। परन्तु कांग्रेस और लीग के नेताओं ने स्पष्टरूप से कह दिया कि इसमें बहुत विलम्ब हो जायेगा। लोगों से पूछ-ताछ करने से शायद डेढ़ वर्ष लग जाए। हमें स्वाधीनता शीघ्र मिलनी चाहिए। अतः उन्हें स्वाधीनता शीघ्र दी गई। कांग्रेस को भारत में स्वाधीनता मिली। लीग को पाकिस्तान में। कुछ लोग कहते हैं कि यदि लोगों से पूछ लिया जाता तो भी यही हाल होता। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मैं लाहौर का रहने वाला हूँ। क्या आप समझते हैं कि यदि मुझ से यह कहा जाता कि तुम्हें ऐसी स्वाधीनता मिलेगी जिस से तुम्हारा देश दो भागों में बट जाएगा, तुम्हारा घर तुम से छिन जायेगा, तुम्हारा माल असबाब लूटा जाएगा, तुम्हारी माताओं और बहनों के नग्न जुलूस निकाले जायेंगे, तुम्हारे लोकगीत तुम से छीने जायेंगे; तुम्हारी भाषा, तुम्हारी सभ्यता और संस्कृति विनष्ट कर दी जायेगी तो क्या आप समझते हैं, पश्चिमी या पूर्वी पंजाब का कोई हिन्दू, सिख, मुसलमान या पूर्वी बंगाल या पश्चिमी बंगाल का कोई मनुष्य अपनी सुधबुध रखता हुआ इस प्रकार की स्वाधीनता के पक्ष

में वोट दे सकता था और इसे स्वीकार कर सकता था। कम से कम मैं इतना जानता हूँ कि साधारण जनता इसे किसी अवस्था में स्वीकार न करती। वह कोई दूसरा मार्ग निकालती, कोई अच्छा मार्ग। चाहे उसके लिये दस वर्ष और क्यों न लग जाते और जातियों के इतिहास में दस वर्ष क्या होते हैं। दस क्षणों से अधिक नहीं होते। हमें अपने सिद्धान्तों को छोड़कर स्वतन्त्रता मिली तो कैसी। हम ने एक देश माँगा था, उसके दो टुकड़े कर दिये गये। हम ने अहिंसात्मक क्रांति मांगी, यहां रक्त की नदियाँ बह गई। हम ने हिन्दू-मुस्लिम एकता मांगी थी, हमें हिन्दू-मुस्लिम फूट मिली। हम ने एक भाषा, एक संस्कृति, एक मानवता की रट लगा दी थी। इस ऊपर के समझौते ने वह सब कुछ राख कर दिया। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में केवल ऊपर के एक वर्ग को स्वाधीनता मिली है। इनके लिये सचमुच स्वतन्त्रता है। हिन्दू पूंजीपति, मुस्लिम पूंजीपति और सिख पूंजीपति तथा जागीरदार ने इस स्वाधीनता से अवश्य लाभ उठाया है और उसे अपना व्यवसाय-वाणिज्य बढ़ाने के और भी अच्छे अवसर प्राप्त होगए हैं। परन्तु हिन्द का ग़रीब मुसलमान पाकिस्तान पहुँचकर भी ग़रीब ही रहा। और पाकिस्तान का दरिद्र हिन्दू और सिख हिन्दुस्तान पहुँचकर भी उसी अवस्था में रहा, नहीं-नहीं और भी अधिक संकट में ग्रस्त होगया। हाँ दोनों देशों में पूंजीपतियों और उनके नेताओं को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई और वे बड़ी-बड़ी गद्दियों पर चढ़ बैठे। पाकिस्तान में ग़रीब हिन्दुओं और सिखों का रक्त

बहा और हिन्दुस्तान में ग़रीब मुसलमानों का। परन्तु डालमिया का व्यवसाय पाकिस्तान में नियमित रूप से चलता रहा और इधर इस्फ़हानी का कलकत्ता में। यह साम्प्रदायिक वैमनस्य ग़रीबों का रक्त बहाने के लिये है, पूंजीवाद का गला काटने के लिये नहीं है। इसमें केवल साहित्य, संस्कृति और सभ्यता का खून होता है, निर्धनता, अज्ञान और गुण्डापन का नाश नहीं होता। सम्प्रदाय को हमारे पूंजीपतियों ने बड़ी सावधानी और चालाकी से हमारी जनता के विरुद्ध उपयोग किया है। साम्प्रदायिकता के भयङ्कर प्रवाह ने पाकिस्तान में लोकतन्त्रात्मक संस्कृति को कई वर्ष पीछे धकेल दिया है। और यहाँ पर यही विष फैलाया जा रहा है। इस भीषण साम्प्रदायिकता ने गांधीजी के प्राण ले लिये। जनता की दुर्बलता और मूढ़ता के कारण हमारे पूंजीपतियों के पास यह एक बड़ा प्रभावशाली अस्त्र है (जिसका प्रयोग वे सदा करते रहते हैं) ताकि जनता आपस में लड़ती-भिड़ती रहे और यथार्थ-रूप से स्वतन्त्र न हो। इस लज्जास्पद परिस्थिति ने केवल पंजाब में पिछले एक वर्ष में साढ़े चार लाख व्यक्तियों के प्राण लिये हैं। यह वह मूल्य है जो जनता ने पूंजीपतियों और जागीरदारों को स्वतन्त्रता के लिये दिया है।

प्रत्येक स्वाधीनता के दो रूप होते हैं। एक तो इसका वह रूप है जो सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप में हमारे सामने आता है, जिसका मैंने अभी उल्लेख किया। इसका दूसरा रूप वह है जिसका सम्बन्ध हमारे आध्यात्मिक और नैतिक

नापमान से है; हमारे समाज की कला और कौशल से, काव्य और संगीत से तथा भाषा और संस्कृति से। एक प्रगतिवादी साहित्यिक के रूप में अर्थात् एक ऐसे साहित्यिक के रूप में जो जनता की उन्नति चाहता है और जो जनता के विरुद्ध पूंजीपतियों और मुट्ठी भर जागीरदारों के भोग-विलास का रखवाला नहीं है, मेरा सम्बन्ध दोनों रूप में आप से होता है। जब तक जनता के साधारण जीवन का स्तर ऊँचा नहीं होता, उन्हें पेट भर रोटी, पहनने के लिये कपड़ा और रहने के लिये साफ़-सुथरा मकान नहीं मिलता, उन में संस्कृति की वह ज्योति नहीं जगाई जा सकती, जिसका स्वप्न प्रत्येक कलाकार देखता है। स्पष्ट है कि जब जनता की अवस्था यह हो जो आज-कल है, जब जीवन की आवश्यकताओं के दाम पहले से दस गुना प्रत्युत् कई चीजों में तीन चार सौ गुणा बढ़ जाएं, ऐसे समय में ग़ालिब और प्रेमचन्द की पुस्तकों को मोल लेना और पढ़ना बहुत कठिन है। संस्कृति अपने सच्चे ढँग से वहीं जनता में फैलती है जहाँ सच्चे ढँग से जनता का राज है। इसीलिये रूस में और अब पूर्वी यूरोप के देशों में जहाँ एक पुस्तक का संस्करण पचास हज़ार छपता है और डेढ़ महीने में बिक जाता है, जहां संसार के प्रत्येक देश से अधिक पुस्तकें, पत्रिकाएं, समाचारपत्र छपते हैं और सबसे अधिक संख्या में; यह प्रकट है कि वहाँ की जनता के पास खाने, पीने, रहने, सहने के व्यय के पश्चात् भी इतनी क्रय-शक्ति शेष रहती है कि वे इतनी पुस्तकें ख़रीद सकें और परिश्रम मज़दूरी करके इतना

समय शेष बचता है कि वे लोग इतनी पुस्तकें पढ़ सकें और उन से लाभ उठा सकें तथा अपने समाज को नये मूल्यों से जान-पहचान कराते हुए एक भरपूर जीवन बिता सकें। हमारे समाज में, आज के समाज में, यह असंभव है। इसलिये आज का प्रगतिवादी इसे बदलना चाहता है और जो प्रगतिवादी साहित्यिक नहीं है वह इसे बदलना नहीं चाहता अपितु इसी समाज को स्थिर रखना चाहता है। यह साहित्यिक और कलाकार जनता की महानता को भूल गया है, जो कभी एक स्थान पर नहीं रुकी प्रत्युत् आगे बढ़ती गई है। हम लोग भी ऐसे कलाकारों को पीछे छोड़कर आगे चले जायेंगे। इन में से कुछ लोग हमारे साथी थे। किन्तु साथी भी बिछुड़ जाते हैं। खेद अवश्य होता है परन्तु मानवता और उसकी उन्नति की आवश्यकता सर्वोपरि है, सबसे ऊँची है, सबसे तीखी है। इसके लिये यदि हमें अपने रक्त का अन्तिम बिन्दु भी देना पड़े तो देना होगा। क्योंकि प्रगतिवादी साहित्यकार ने प्रत्येक क्षेत्र में, हर मन्ज़िल पर, मनुष्य के नए जीवन का साथ दिया है। उसने सुक़रात बन कर विष का प्याला पिया है, बायरन बनकर देश-निकाला स्वीकार किया है, वह राल्फ फ़ाक्स और बिलूरका बनकर मौत के घाट उतार दिया गया है, वह गोरकी बनकर गाँव-गाँव घूमा है, आरागान और पीलोरोदा बनकर जनता के गोरिल्ला दलों में काम करता रहा है और आज भी वह प्रत्येक स्थान पर जहां-जहां जनता अपने नए जीवन, नए अध्यात्मवाद, नए आचरण के लिये लड़ रही है वह

एक से साहित्य की अक्षय पुस्तक लिख रहा है। आज इस स्टेज और प्लेटफार्म पर आप जिन साहित्यिकों को देख रहे हैं, वे शायद बहुत बड़े साहित्यिक नहीं हैं परन्तु वे एक बहुत बड़ी साहित्यिक बपौती के अवश्य मालिक हैं। यही लोग वास्तविक उत्तराधिकारी हैं उस साहित्य के, जिसने बार-बार जनता के लिए विष पिया है, जो इसके प्रेम में फांसी पर लटकाया गया है, जिसे गोलियों की बाढ़ से छलनी किया गया है। पुस्तकों को फासिस्ट बाजारों और चौकों में जलाया गया है। और जब आप देखें कि 'सरदार जाफ़री' और 'साहिर' लुध्यानवी और 'कैफी अज़मी' की कविताओं को कारागार के सीखचों के भीतर बन्द कर दिया गया है, जब आप यह सुनें कि राजेन्द्रसिंह बेदी और इस्मत चुगताई की कहानियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, जब आप को पता चले कि सागर निजामी और न्याज हैदरी के गीतों के गले में फांसी की रस्सी लटका दी गई है तो समझ जाइये कि प्रगतिवादी साहित्यिक अपना कर्तव्य पालन कर रहा है, और हम आप से प्रतिज्ञा करते हैं और हम सौगन्ध खाते हैं कि हम अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। और संसार की कोई बड़ी से बड़ी शक्ति और बड़े से बड़ा साम्राज्यवाद हमारी आवाज को नहीं दबा सकता। इस आवाज पर विष का, कार्तूस की गोली का, कारागार के सीखचों का, फाँसी की रस्सी का कोई प्रभाव नहीं होता। यह आवाज जनता की आवाज है। यह आवाज दस हज़ार वर्ष

पुरानी है। इसे कोई दबा नहीं सकता, कोई जला नहीं सकता, कोई मार नहीं सकता।

आर्थिक रूप से आगे बढ़कर जब हम इस स्वतन्त्रता के सांस्कृतिक रूप को देखते हैं तो इस में भी इसी पूंजीवादी द्वन्द्व और इसकी द्विजातीय नीति को काम करते हुए देखते हैं। सांस्कृतिक रूप से एक सीधी सादी साधारण बात जो हम सब की समझ में आती है वह यह है कि यदि किसी प्रदेश या प्रांत या खण्ड में सांस्कृतिक ऐक्य पाया जाता है तो उसे तोड़ना और उसके विरुद्ध काम करना जनता से धोखा करना है और इस लिये वह अप्रगतिवादी काम है। इसका उदाहरण मैं आपको अभी दूंगा। आप गुजरात में रहते हैं। गुजरात के सारे रहने वालों की भाषा प्रायः गुजराती है। इस भाषा में आपकी संस्कृति विद्यमान है। आप के लोकगीत, आपका साहित्य, आप के प्रान्त का पूरा इतिहास है। गुजराती प्रदेशों में हर जगह गुजराती सभ्यता के सुन्दर तत्त्व पाये जाते हैं, जो लाखों व्यक्तियों को सांस्कृतिक और आत्मिक रूप में एक दूसरे से बांधते हैं। आपकी भाषा, आपका साहित्य, आपका संगीत, आपका नृत्य आपका स्थापत्य एक विशिष्ट एकता से सम्पन्न है जिसके कई पहलू भारत की अन्य प्रादेशिक सभ्यताओं से मिलते हुए हैं और जिसकी जड़ें भारत से बाहर की धरती में जा रही हैं, फिर भी वह संस्कृति एक विशिष्ट रंग लिये हुए है, जो संसार के सांस्कृतिक और कलात्मक सौंदर्य में एक मूल्यवान वृद्धि है। हिन्दुस्तान में

इसी प्रकार से और दूसरे सांस्कृतिक तत्त्व पाये जाते हैं, जो एक दूसरे से मिलते-जुलते, एक दूसरे का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी अपने भीतर एक विशिष्ट गौरव रखते हैं, जिसके अन्दर उनकी जनता की विशेष कला चमकती है। उनके गीत जागते हैं। उनकी लोरियाँ माताएँ सुनाती हैं। उनके सुन्दर शरीर नाचते हैं और भवन-निर्माण कला के मनोहर स्वप्न हाथों से बनते जाते हैं। इस सभ्यता, इस कला को उजागर करना, इसे आगे बढ़ाना, इसके अन्दर जनता की शक्ति को बढ़ाना प्रत्येक प्रगतिवादी मनुष्य का कर्तव्य है और इसे मिटाना, इसे नष्ट-भ्रष्ट करना, इसके टुकड़े-टुकड़े कर देना सब प्रकार से बुरा है। और कोई मनुष्य यदि वह मनुष्य है, यदि उसे जनता से प्यार है, यदि उसे मनुष्य की नूतन सभ्यता और संस्कृति से प्रेम है तो वह इसे कभी अच्छा नहीं कह सकता। परन्तु हमारे यहाँ की नाममात्र स्वाधीनता ने इस सांस्कृतिक एकता को भी नष्ट-भ्रष्ट किया है। इसने पंजाब की सांस्कृतिक एकता का विध्वंस किया है। फीरोजखाँ नून और मास्टर तारासिंह के पंजाब को नहीं, इसने वारिसशाह और बुल्ले शाह और दिलेरसिंह के पंजाब का विध्वंस किया है। आज हीर और राँझे की माँ विधवा है, जिसकी गोद में करोड़ों पंजाबियों ने जीवन की मधुर लोरियाँ सुनी थीं। आज वे गीत अनाथ और असहाय हैं जो गेहूँ के सुनहले खेतों में गूँजते थे और जिनकी उल्लास भरी तानें सरसों के पीले-पीले फूलों पर तितलियों की भाँति थिरकती थीं। आज हीर का सतीत्व छिन्न

चुका है और उसकी गोदी में लहकते हुए बच्चों को बटवारे के भाले पर उछाल दिया गया है। और इसे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की स्वाधीनता का नाम देकर इस पर आनन्द के गीत गाये जा रहे हैं।

जिस प्रकार पंजाब को तबाह किया गया उसी प्रकार बंगाल के राष्ट्रीय अस्तित्व का भी उन्मूलन किया गया है। मारवाड़ियों का बंगाल आज भी जीता है, बिड़ला और इस्फहानी का बंगाल आज भी धनी और सबल है, फिरंगियों के जूट के कारखाने आज भी सुरक्षित हैं, बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ आज भी स्थिर हैं। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में आज भी निर्धन निर्धन हैं और धनी धनी हैं और उसी तरह जीवित हैं। किन्तु यदि कोई वस्तु टुकड़े-टुकड़े हुई है तो वह बंगला भाषा है, बंगाल की सम्पूर्ण संस्कृति है और उसकी सभ्यता है। आज ख्वाजा नाजिमुद्दीन और डाक्टर बी०सी० राय के बंगाल पर कोई चोट नहीं आई। वह बंगाल जिसे घायल, बलिदान और ध्वस्त किया गया वह ठाकुर (टैगोर) और काजी नजरुलइस्लाम का बंगाल है; शरत और माणक बैनर्जी का बंगाल है, क्रांति के बलिदानियों का बंगाल है। आज बंगाली संगीत के स्वर क्षीण हैं और मणिपुर का नृत्य थमता-थमता थम गया है। और कलाकार अपने निस्तब्ध नूपुर को देख रहा है, उसके घुंघरुओं का गला घोटने वाला वही लज्जास्पद समझौता है।

उसी समझौते ने पंजाब और बंगाल की संस्कृति का विनाश

करके ही साँस नहीं लिया, उसने भारत में एक हजार वर्ष पुरानी हिन्दू और मुसलमानों की सामूहिक संस्कृति को भी करारी चोट लगाई है। यह संस्कृति जिसने नानक, कबीर और चिश्ती उत्पन्न किये, जिसने ताज-महल, फतहपुर सीकरी और जयपुर के भवनों का निर्माण किया, जिसने तानसेन और अब्दुलकरीम खाँ को जन्म दिया और जिसने उर्दू भाषा को अपने रक्त से सींचा और उसे सारे भारतवर्ष के बाजारों, कारखानों और बन्दरगाहों में पहुँचा दिया। यह भाषा जिसे सारे भारतीय समझते हैं, जिसमें भारत के विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्व अपने आपको एक लड़ी में पिरोते हैं। आज भारत जन-साधारण के जीवन का कोई कोना, चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी सम्प्रदाय या धर्म-मत से हो, भारत का इस सामूहिक संस्कृति के गहरे प्रभावों से नहीं बचा। हमारे साधारण जीवन पर इसी संस्कृति की छाप है और ऐसी गहरी छाप है कि हम इसे अनुभव तक भी नहीं करते। यह किसी विदेशी संस्कृति की बेड़ियाँ नहीं हैं। यह संस्कृति हमारे रक्त में इस प्रकार रच गई है, इस प्रकार रस बस गई है कि अब उसकी जड़ों को हमारे जीवन से निकाल फेंकना अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को घायल करना है, अपनी सांस्कृतिक उन्नति के मार्गों को रुद्ध करना है।

किन्तु आज हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के शक्तिशाली वर्ग अपने स्वार्थ के लिए यही कर रहे हैं। हिन्दुस्तान से उर्दू भाषा को मिटाने की चेष्टा निरन्तर जारी है। उर्दू भाषा और हिन्दु-

स्तानी संस्कृति को मिटा देने के आयोजन हो रहे हैं। पाकिस्तान में बंगाली भाषा और बंगाली संस्कृति के महत्त्व और जीवन को घटाया जा रहा है और यह सब कुछ धर्म के नाम पर हो रहा है। वह धर्म जिसे विभिन्न युगों में पैग़म्बरों और वलियों ने मनुष्य की भलाई और क्षेम के लिये प्रयोग किया था आज मानव और मानव के बीच घृणा की दीवार बन गया है। आज वह धर्म पूँजीवादियों का हथियार बनकर गुण्डागर्दी का उपदेश करता है। वह बलात्कार सिखाता है, डाका डालता है, घर लूटता है और हज़ारों वर्षों के संस्कृति-सम्बन्धी सम्मिलित परिश्रम को अपने अत्याचार से विनष्ट कर देना चाहता है। धर्म का यह अनुचित प्रयोग पूँजीवादियों के कृत्यों पर एक ऐसा खूनी कलङ्क है, जिसे इतिहास कभी क्षमा नहीं कर सकता। उन्होंने धर्म का प्रयोग जीवन, नीति और उन्नति के लिये नहीं किया है अपितु इसे अपने वर्गीय स्वार्थों, अवनति, अधःपतन और मृत्यु का स्रोत बनाया है। और यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि पूँजी-वादियों के हाथ में पड़कर सुन्दर से सुन्दर कलात्मक वस्तु भी नष्ट हो जाती है। इसी साम्प्रदायिकता ने मानववादी गांधी की जान ली है और जब हम प्रगतिवादी साहित्यिक अपने प्रयत्नों से इस भयङ्कर हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के आवरण को फाड़ते हैं तो हमें नास्तिक, बेदीन और धर्महीन कहा जाता है। अरे, धर्महीन हम हैं या तुम हो?

परिस्थितियों को इस प्रकार जाँचने के पश्चात् हमारी स्वाधीनता

का वास्तविक चित्र सामने आ जाता है और हम इस की रूप रेखा स्पष्टतया देख सकते हैं। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से इसने हमारे जीवन की मौलिक समस्या को नहीं सुलझाया है और न इसकी ओर कोई ध्यान दिया है और न इसके सम्बन्ध में कोई योजना बनाई है। दाम बढ़ रहे हैं, दरिद्रता बढ़ रही है और अज्ञता, और भूख और घृणा और बेकारी बढ़ रही है और बढ़ती जा रही है और बढ़ती चली जाएगी जब तक कि इसके विषय में बौद्धिक और वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ठीक-ठीक निर्णय नहीं किये जायेंगे। यह निर्णय पूंजीवादी शासन-व्यवस्था नहीं कर सकती। न केवल भारत में प्रत्युत संसार के किसी भाग में भी यह व्यवस्था अब जनता की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती है। दूसरी ओर साँस्कृतिक रूप से भी आप ने देखा कि वर्तमान परिस्थिति ने हमें कितनी हानि पहुँचाई है। हमारी सम्मिलित संस्कृति की बपौती को लुटा दिया गया है और मानव संस्कृति के दो सुन्दर पुष्पों को अर्थात् पंजाब और बंगाल की संस्कृति को पाँव तले रौंदा गया है। सब प्रकार से जनता की हानि हुई है और उसके संकटों में वृद्धि हुई है। यदि आज का प्रगति वादी साहित्यिक यत्नपूर्वक जनता के इस दुःख दर्द और हानि का अनुमान नहीं करता है, यदि आज वह उसे झूठी बाल-सुलभ सान्त्वनाएं देता है, यदि आज वह इस के रूप को बिगाड़ता है और इसे मिथ्या रूप में प्रस्तुत करता है तो वह प्रगतिवादी नहीं है।

आज केवल उर्दू भाषा ही के नहीं अपितु भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्यिकों और उनके बोलने और समझने वालों का कर्तव्य है कि उर्दू भाषा को बचाएं और इसे साम्प्रदायिक ताना-शाही और पूंजीवादियों की शत्रुता का शिकार न होने दें। आज जनता के प्रत्येक साहित्यिक का कर्तव्य है कि वह हमारी एक हजार वर्ष की सम्मिलित सार्वजनिक संस्कृति की पूंजी को पूंजी-वादियों की लूट से बचाये। यह इसी रूप में हो सकता है, और यह मेरी निजी राय है। परन्तु मैं इस पर अत्यन्त दृढ़ता के साथ आरूढ़ हूँ कि आज कोई प्रगतिवादी साहित्यिक सच्चे अर्थों में प्रगतिवादी नहीं हो सकता, जब तक कि वह अत्यन्त स्पष्ट रूप में न केवल भारत के जन-साधारण प्रत्युत संसार भर के जन-साधारण के लिये एक बौद्धिक, तार्किक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समाजवादी क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव न करे। समाजवाद मानवता का अगला पग है। आज की परिस्थिति में केवल समाजवाद ही एक श्रेष्ठ नीति और सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है जिस में जनता की मौलिक आवश्यकताओं की सुरक्षा की जा सकती है, जिस में प्रत्येक व्यक्ति को रोटी, कपड़ा, घर और काम मिल सकता है, जिस में शिक्षा सबको निःशुल्क मिल सकती है, जिस में विभिन्न साँस्कृतिक इकाइयाँ एक साथ रह कर उन्नति कर सकती हैं और अपने आप को एक दूसरे का शत्रु नहीं अपितु सहायक और सहयोगी समझ सकती हैं। आज संसार के छठे भाग में यही हो रहा है। जो साहित्यिक इस परीक्षा

के महत्त्व की अवहेलना करता है और इस सत्य की ओर से आँखें बंद करता है उसे अपने आपको प्रगतिवादी कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। आप इसमें सहमत हों या न हों, किन्तु मेरी यह निजी राय है कि आजकी परिस्थिति में साहित्यिक और कलाकार और सच्ची कला के अनुरागी के लिये कोई मार्ग नहीं है। जब रूस की अवस्था ख़राब थी तो लोगों ने कहा था, साहित्य के कलाकारो! अपना मार्ग चुन लो। आज वही मार्ग हमें भारत में और पाकिस्तान में बुलावा दे रहा है और कह रहा है, महान् कलाकारो, ताज और अजन्ता के निर्माताओ, ठाकुर और इक़बाल के गीत गाने वालो, आज हमारा जीवन एक दोराहे पर आन पहुँचा है। एक ओर मृत्यु का मार्ग है, दूसरी ओर नए समाज की दुर्गमय घाटी है। एक ओर पूंजीवाद है दूसरी ओर समाजवाद है। एक ओर जनता से शत्रुता है दूसरी ओर जनता से प्रेम है। एक ओर साम्प्रदायिकता है और दूसरी ओर मानवता है। एक ओर एटम बम की शक्ति है दूसरी ओर विचार की अमर सचाई है। आज इतिहास ने फिर तुम्हें पुकारा है। महान् कलाकारो, ठाकुर इक़बाल और प्रेमचन्द, गोरकी, रोमाँ रोलाँ और फोचक, टॉम पेन, और राल्फ फाक्स के बुत तुम्हें देख रहे हैं। पैरिस के बैरीकेड, मास्को के गुम्बद, स्पेन की घाटियाँ, तलंगाना की वादियाँ और चीन के मरुस्थल तुम्हारी आवाज की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"आवाज दो, महान् कलाकारो, तुम्हारा मार्ग किधर है।

गोरकी की महानता

: २ :

टालस्टाय गोरकी से कहा करता था—"तुम किसान हो, वैसी ही काव्यमय आत्मा तुमने पाई है—सीधी-सादी, भावुक। यूरोपीय स्वभाव के उलझाव तुम में नहीं हैं। तुम्हारे पात्र भी किसान के काल्पनिक स्वर्ग के सुन्दर संसार की कामना रखते हैं उसी तरह दुःख झेलते हैं, लड़ते हैं, हीरो बन जाते हैं। तुम्हारे पात्र साधारण लोगों में से होते हुये भी बड़े और महान हैं। तुमने उन्हें केवल इस संसार में से ही नहीं चुना प्रत्युत उन्हें अपनी काव्यात्मक कल्पना की वेशभूषा से सुसज्जित भी किया है।"

टालस्टाय ने गोरकी से ठीक-ठीक यही शब्द कभी नहीं कहे थे। परन्तु विभिन्न अवसरों पर गोरकी से उनका जो वार्तालाप हुआ, गोरकी की कला के सम्बन्ध में, उसका निष्कर्ष यही निकलता है। इस से जहां हमें टालस्टाय की विवेकपूर्ण आलो-

चना का परिचय मिलता है वहां हमें गोरकी की कला के विषय में एक बहुत बड़े रूसी साहित्यिक के द्वारा सोचने और समझने का अवसर प्राप्त होता है। यूरोपीय स्वभाव के जिस उलझाव का उल्लेख टालस्टाय ने किया वह स्वयं टालस्टाय के पात्रों में विद्यमान है। परन्तु वह गोरकी के यहां नहीं है। इसका कारण यह है कि जहां टालस्टाय ने अपनी कला को समाप्त किया वहां से गोरकी ने अपनी कला को आरम्भ किया। टालस्टाय उन्नीसवीं शताब्दी के रूस और यूरोप का चित्रकार है। उसके पात्रों की गति-विधि, उनका कार्यकलाप, उनका वार्तालाप, उनका जीवन-दर्शन, उनका मनोविज्ञान, उनका वातावरण खिंच कर टालस्टाय के उपन्यास "शान्ति और युद्ध" में आ जाता है। परन्तु यह ऐसे वातावरण का चित्र है, ऐसे पात्रों का वर्णन है, ऐसे मनोविज्ञान का विश्लेषण है जिसकी ऐतिहासिक आवश्यकता समाप्त हो चुकी है, जिसका ऐतिहासिक महत्व केवल भविष्य में अध्ययन का विषय रह गया है और जिसका ऐतिहासिक अस्तित्व मृत्यु-शय्या पर दम तोड़ते हुए रोगी के समान है। किन्तु यह होते हुए भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने धार्मिक मानव-वाद के बावजूद, अहिंसा और प्रतिरोध-शून्यता के बावजूद टालस्टाय ने बड़ी सुन्दरता और दक्षता से सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी को "शान्ति और युद्ध" के अजायबघर में बन्द कर दिया। उसके भ्रमयुक्त जीवन-दर्शन से अनुचित परिणाम भी निकले हैं और इससे साहित्य को सामयिक रूप से हानि भी पहुँची है। किन्तु यह हानि बहुत अधिक होती,

बहुत दूर तक प्रभाव डालने वाली और भयंकर होती, यदि ऐसे अवसर पर साहित्यिक जगत् में गोरकी का प्रादुर्भाव न होता। यह गोरकी का महान् कार्य है कि उसने साहित्य को धार्मिक, विवेक-शून्य, खोखले, काल्पनिक मानववाद से बचा कर उसका प्रवाह इस दिशा में मोड़ दिया, जिसके कारण से रूस में और संसार में १९१७ ई० की पहली समाजवादी क्रान्ति हुई। टालस्टाय ने हमें बताया कि उन्नीसवीं शताब्दी का संसार कैसा था और वह कैसे समाप्त हुआ। गोरकी ने हमें बताया कि जब यह संसार समाप्त हो रहा था तो इसके गर्भ में एक नये संसार का सृजन हो रहा था। टालस्टाय एक सायं को समाप्त करता है और गोरकी एक प्रातः को आरम्भ करता है।

गोरकी ने हमें बताया कि यूरोपीय स्वभाव का मनोवैज्ञानिक उलझाव उसकी मौलिक प्रकृति का गुण नहीं है प्रत्युत पूंजीवादी साम्राज्यात्मक वातावरण का परिणाम है जिसमें व्यक्ति को जीवित रहने के लिये इतना परिश्रम, इतनी दौड़ धूप करनी पड़ती है कि वह महीनों क्या वर्षों तक आकाश को नहीं देख सकता, फूलों को नहीं सूंघ सकता, बिछौने पर नहीं लेट सकता, समुद्र के तूफ़ानी संगीत को नहीं सुन सकता और उस चकाचौंध श्वेत आभा से परिचित नहीं हो सकता जो स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहन कर अनुभव होती है। यह उस वातावरण का प्रभाव है कि जिस में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता, अपितु एक इकाई समझता है जिसे कारखाने में जमा किया जा सकता

है, जिसे यहूदियों की भाँति घटाया जा सकता है, जिसे एशियाई उपनिवेशों में गुणा किया जा सकता है और जिसे युद्ध में विभक्त किया जा सकता है। स्पष्ट है कि जिस साम्राज्यवादी जीवन-व्यवस्था के प्रभावाधीन व्यक्ति पर इस प्रकार चारों ओर से चढ़ाई होगी तो उसका शान्त, संतुलित जीवन किस प्रकार घुट कर, पिस कर, प्रायः समाप्त होकर रह जायेगा। और वह अपने आपको उतना ही एकाकी अनुभव करेगा जितनी एक इकाई। व्यक्ति की कितनी दुर्दशा, अनादर और अपमान पूंजीवादी व्यवस्था में और साम्राज्य के पाशविक, अनैसर्गिक, अमानुषिक वातावरण में होता है। किस प्रकार उसके मानसी पत्तों में रंग उड़ जाते हैं, उसके हृदय से प्रेम और प्यार का सोता शुष्क हो जाता है; उसकी आँखों से, हृदय से और उसके अधरों से स्निग्धता और अनुकम्पा की बाँकपन उड़नछू हो जाते हैं और वह मनुष्य हराभरा मनुष्य नहीं रहता, बन का पशु, अपितु इससे भी अधम स्तर का जीव, बन जाता है। इस बात की तीव्रता का अनुमान और इसका कटु दुःखद अनुभव जितना हमें गोरकी के यहाँ मिलता है और किसी साहित्यिक के यहां इतनी बड़ी सूझ-बूझ के साथ नहीं मिलता। गोरकी का नाटक 'लोअर डेप्थ्स' (Lower Depths), जो संसार के प्रत्येक सभ्य स्टेज से अभिनीत हो चुका है, ऐसी ही बेरंग इकाइयों का द्योतक है, जो कभी मनुष्य थी और जिन्हें अत्याचारी समाज ने पीस कर रख दिया है।

परन्तु गोरकी इन निचली गहराइयों के चित्रण में ज़ोला की

भांति तटस्थ रहने की चेष्टा नहीं करता । वह बालजाक की भांति केवल आलोचनात्मक यथार्थवाद पर संतोष नहीं करता। वह पालवरलीन और अन्य फ्रांसीसी प्रतिक्रियावादियों की भांति मनुष्य को उसके बाह्य वातावरण से पृथक् करके उसके मानसिक गोरखधन्धों में उलझ कर या नैराश्य का शिकार होकर नहीं रह जाता और मृत्यु और आत्म-हत्या की प्रेरणा नहीं करता और न ही वह सप्त लोकों से परे किसी देवता के सहारे हाथ पर हाथ रखकर बैठने का उपदेश करता है।

गोरकी मानव का साहित्यिक है और इसकी क्रियात्मक क्षमताओं को स्वीकार करता है। उसके सामने मानव का भव्य अतीत है जिसमें मनुष्य अपनी क्रियाशक्ति, उत्थान, अनुप्राण और मानसिक अनुसन्धानात्मक चेष्टाओं के फलस्वरूप पशु के स्तर से ऊँचा उठकर मनुष्य बना है, एक साधारण मनुष्य से उत्तम मनुष्य बना है। गोरकी को विश्वास है कि मानव सर्वोत्तम और संपूर्ण हो सकता है यदि उसे समुचित बाह्य वातावरण सुलभ हो सके, यदि उसके मस्तिष्क का सर्वोत्तम शिक्षण-पोषण हो सके। यदि उसकी काव्यात्मक कल्पना को पंख मिल सके तो वह इस पृथ्वी क्या लाखों सूर्यों पर विजय प्राप्त कर सकता है। गोरकी का विचार है कि १९१७ ई० की क्रान्ति ने उसे यह पंख प्रदान किये हैं।

मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में गोरकी का जीवन-दृष्टिकोण फ्रांसीसी प्रतिक्रियावादियों और उनके विदेशी शिष्यों की भांति

नकारात्मक अधोगति, शैथिल्य और मानसिक दरिद्रता का मारा हुआ नहीं है। गोरकी मनुष्य को सृष्टि के केन्द्र में देखता है—एक अस्तित्वपूर्ण आन्दोलन की भांति जो सारे संसार को बदल रहा है, उसकी गुप्त शक्तियों के रहस्यों को समझकर उन्हें अपने काम में ला रहा है और हमारे इर्द-गिर्द के वातावरण को पहले से अच्छा और सुन्दर बना रहा है। इसलिये गोरकी केवल निचली गहराइयों का विश्लेषण नहीं करता, वह ऐसे पात्र भी प्रस्तुत करता है, ऐसे नायक पैदा करता है जो साधारण मनुष्यों में से होते हुए भी अपने गुणों में देवताओं से स्पर्धा करते हैं, जिन के यहां मनोविज्ञान की जटिलतायें बहुत कम हैं, जिनमें भावों की भरपूर सादगी है और एक ऐसी काव्यात्मक महानता और निर्माणात्मक साहस है कि संदेह होता है कि जिस यूनानी पुरोहित ने देवताओं से पवित्र आग का एक अंगार चुराया था, वह आज गोरकी की 'मां' के पात्र में दोनों हाथों से एक भड़कता हुआ आलोक-स्तम्भ उठाये आ रहा है। आज मैंने देवताओं पर विजय प्राप्त करली है, क्योंकि मैं 'मां' हूं, मैं सृजन हूं, मैं जीवन और आनन्द का अक्षय स्रोत हूं। मैं ही वह ईश्वर हूँ जिसमें लाखों सूर्य और चाँद घूमते हैं और नृत्य करते हैं।

मैं इस पर इसलिये जोर देकर कह रहा हूँ क्योंकि आज हमारे शत्रु—जो मनुष्य और मनुष्य की उन्नति के शत्रु हैं, जो मनुष्य को आगे बढ़ता हुआ देखना नहीं चाहते प्रत्युत उसे वर्तमान दुर्गन्ध-युक्त वातावरण के कीचड़ में कुलबुलाते हुए कीड़ों

की भाँति अन्धी प्रकृति का शिकार देखना चाहते हैं, जो ध्वंस और वर्तमान स्थिति को स्थिर रखने के समर्थक हैं—ये सब लोग और इनके विचारों के साहित्यिक हम से गोरकी की इस मूल्यवान दाय को छीनना चाहते हैं, हमें इस से वञ्चित कर देना चाहते हैं। वे हम से उच्च अनुभूतियाँ और भावों की तीव्रता छीन लेना चाहते हैं ताकि हम फीके सीठे बेरंग किन्तु जटिल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते रहें जिसकी कोई दिशा न हो। वे हम से कवित्वपूर्ण गौरव छीन लेना चाहते हैं ताकि हम केवल 'आज' पर संतोष कर लें और आने वाले अच्छे कल के सौंदर्य की कल्पना न कर सकें और इसलिये इसके निमित्त लड़ न सकें। वे हमारे पात्रों से उनका आधारभूत सादृश्य छीन लेना चाहते हैं, यह कहकर कि एक साधारण व्यक्ति तो ऐसा नहीं होता। वे यह कहते हुए हमारे सामने जान-बूझ कर हमें इस सत्य से दूर ले जाने की चेष्टा करते हैं कि शायद एक साधारण मनुष्य ऐसा नहीं होता। परन्तु हजारों साधारण मनुष्य मिल कर एक ऐसा पात्र अवश्य बन सकते हैं जिस में मनुष्य की सारी शक्ति और उसकी भावनाओं की सारी तीव्रता और उसकी काव्यात्मक क्षमताओं की महानता समाई जा सकती है। और जब ऐसे एक व अनेक पात्रों की सृष्टि हो जाती है तो वे स्वयं धीरे धीरे मानवी मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं और साधारण मनुष्यों को ऊंचे स्तर पर पहुँचाते हैं। गोरकी जो सोवियत साहित्य का उदग्र निर्माता था उसने यही किया और उसके दूसरे साथियों तथा

वर्तमान सोवियत साहित्य के अन्य निर्माताओं ने भी यही किया। और आज यदि रूसी पात्र में मनोवैज्ञानिक जटिलता और मानसिक घुटन और खिंचाव नहीं मिलता तो इस में दूसरी बाह्य परिस्थितियों को छोड़ कर सोवियत साहित्यिक की विचारधारा और कार्य-शैली का भी एक बहुत बड़ा भाग है। दूसरी ओर अमेरिका में लोग गन्दे उपन्यास पढ़कर वासनापूर्ण भ्रष्टाचार की ओर झुकते हैं, जासूसी उपन्यास पढ़कर हत्यायें करते हैं और अपने निराशापूर्ण जीवन में मनोवैज्ञानिक उलझनों में उलझ कर मनोविज्ञान के विशेषज्ञों की शरण में जाते हैं और जब वहाँ से भी लाभ नहीं होता तो हजारों की संख्या में आत्म-हत्या करते हैं। आत्म-हत्या इसलिये कि रोग कुछ और है और औषध कुछ और दी जाती है।

गोरकी ने अपने समाजवादी यथार्थवाद से साहित्य-जगत के एक नये क्रान्ति पूर्ण मार्ग को प्रदर्शित किया है। गोरकी के यहाँ हमें कल्पना और सत्य का एक ऐसा सुन्दर समन्वय मिलता है जो इससे पहले इससे क्षीण रूप में हमें क़बीलों की साम्यवादात्मक काव्य-गाथाओं और लोक-गीतों में मिलता है। गोरकी के यहाँ यह गुण उससे कहीं उज्ज्वल और प्रखर रूप में मिलता है—इसलिये कि गोरकी १६१७ ई० की क्रान्ति का अग्रदूत है। उसके यहां आपको टालस्टाय की उन्नीसवीं शताब्दी का यथार्थवाद मिलता है। उसके यहां वह आलोचनात्मक विश्लेषण मिलता है जो बालजाक के यहां था। परन्तु इसके अतिरिक्त आपको गोरकी में वह अस्तित्व

पूर्ण क्रान्तिमय रूमानवाद भी मिलता है जो उससे पहले आपने अंग्रेजी कवि शैले में देखा था। गोरकी ने अपनी उत्कृष्ट कला से कल्पना और यथार्थवाद के रंग इस प्रकार मिलाये, उसने आज के सत्य में आने वाले कल की कल्पना इस प्रकार की और अपनी साम्यवादी सूझ-बूझ और ऐतिहासिक विवेक की सहायता से आलोचनात्मक यथार्थवाद में क्रान्तिमय रूमानवाद को इस प्रकार समोया कि साहित्य में एक सर्वथा नवीन वस्तु का आविर्भाव हुआ जो एक ही समय में हमारे अतीत के साहित्य के सर्वोत्तम दाय से सम्पन्न है और भविष्य का विकास और उन्नति की सारी शक्तियां भी अपने भीतर रखती है। सोवियत साहित्य-वसन्त-सूचक अंकुर इस उर्वर भूमि से फूटा है और सारे संसार के साहित्य पर गोरकी के साहित्य का प्रभाव पड़ रहा है।

आज संसार के प्रगतिशील साहित्य को फिर से गोरकी की आवश्यकता है और बार बार आवश्यकता है। यह तीव्र अनुभूति इसलिये पैदा होती है कि आज भी संसार के सामने न्यून या अधिक ऐसा ही संकट है जैसा गोरकी ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अनुभव किया था अर्थात् फैसिज्म का भय, जो एक ओर सम्पूर्ण जातियों के विध्वंस का उपदेश करता है और जातीय उच्चता के आधार पर क़त्ल की धमकी देता है और दूसरी ओर व्यक्ति को युद्ध की एक इकाई बनाता है। गोरकी ने सम्पूर्ण फैसिज्म और साम्राज्यवादियों को अपने अन्तिम लेखों में बार बार ललकारा है और प्रगतिवादी निर्माणवादी व्यक्तियों तथा

दलों, शक्तियों और जातियों को संगठित होकर इस अत्याचार और संकट का मुक़ाबला तथा प्रतिरोध करने के लिये कहा है। आज हमारे सामने फिर वही भय, वही संकट है। आज बिना मूंछों के नये हिटलर उत्पन्न हो रहे हैं जो अमेरिका और एशिया में जनसाधारण पर अपने अत्याचार का हिंसक पंजा गाड़ रहे हैं। केवल दक्षिण अफ्रीका ही में मलान की तानाशाही नहीं। यह तानाशाही काँगू की वादियों में है और अफ्रीका के मरुस्थल की बनस्थलियों में है और मराकू तथा लीबिया की बस्तियों में है। यह तानाशाही, स्पेन तक ही सीमित नहीं है आज पश्चिमी यूरोप के बहुत से देशों में फिर से उभर रही है और इधर दक्षिण पूर्वी एशिया में मलाया, स्याम, बर्मा, हिन्द चीनी के देशों में अपने देश से प्रेम करने वाली और इस प्रेम के लिये लड़ने वाली जनता पर फिर से साम्राज्य अपना जूआ लाद रहा है। ऐसे समय में हमें गोरकी के अग्नि-शिखा की भाँति थर्राते हुए शब्द याद आते हैं—

"जब मेरे सामने देवता और मनुष्य आये मैंने मनुष्य को चुन लिया।"

आज हम भी अत्याचार के देवताओं के सामने सिर झुकाने से इन्कार करते हैं और मानव को चुन लेते हैं। हम इस मानव के लिये लड़ेंगे, इसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये, उन्नति के लिये, उसके सामूहिक वातावरण की उन्नति और हित के लिये और उसकी धुन्धली-धुन्धली दुनिया में चमकती हुई कला के लिये।

जीने का अधिकार

: ४ :

यह कहना अब व्यर्थ सा लगता है कि साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध जीवन से है। परन्तु व्यर्थ विवाद करना कुछ लोगों का स्वभाव है; इसलिए बार बार दुहराना पड़ता है कि साहित्य का एक बहुत ही अटूट सम्बन्ध जीवन से है और जीवन से पृथक् रह कर साहित्य का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। मैंने आज तक वह साहित्य न देखा, न सुना, न पढ़ा जो जीवन से पृथक् होता। साहित्य अच्छा हो सकता है, बुरा हो सकता है, परन्तु जीवन से अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन जड़ है और साहित्य फूल-पत्तियाँ, जीवन भूमि है और साहित्य नव-वसन्त का वृक्ष, जीवन असीम सागर है और साहित्य उसकी लहर, जीवन सूर्य है और साहित्य प्रकाश की नृत्य करती हुई किरण। और जिस प्रकार आप प्रकाश की कल्पना सूर्य के बिना नहीं कर सकते, जिस प्रकार लहर

की कल्पना सागर के बिना असम्भव है, जिस प्रकार शिशु का अस्तित्व माता के बिना असम्भव है, उसी प्रकार साहित्य की कल्पना जीवन के बिना असम्भव है।

परन्तु कुछ लोगों के लिये साहित्य पार्थिव नहीं आध्यात्मिक वस्तु है। चूंकि इस अभागे देश में मनुष्यों के शरीरों की रक्षा कठिन काम हो गया है इसलिए आत्मा और अध्यात्मवाद पर बहुत जोर दिया जा रहा है। भूमि की उपज चूंकि बहुत कम हो गई है इसलिए हमारे सन्तोष के लिए "आध्यात्मिक खेती-बाड़ी" को महत्त्व दिया जाने लगा है। और किसी न किसी प्रकार यह धारणा बना ली गई है कि लोग भूखे हैं तो क्या, उनके पास तुलसीदास की रामायण तो है जिसकी चौपाइयाँ पढ़ कर वे किसी प्रकार अपनी भूख मिटा लेंगे। परन्तु यह एक ठोस सत्य है कि धरती की तृष्णा को आज तक किसी आकाश वाले ने नहीं बुझाया है। और यह समझने वाले यह भी भूल जाते हैं कि तुलसीदास की रामायण भी अकबर के युग में रची गई थी जब भारत समृद्ध था। उसकी रचना अहमदशाह अब्दाली के युग में नहीं हुई थी। वह उस समय लिखी गई थी जब अकबर ने देश में शान्ति स्थापित करके बड़े-बड़े भूमि सुधार किए थे और एक नई भूमि-व्यवस्था को जन्म दिया था। इस समय भूमि से अन्न के जो दाने फूटे, वे तुलसीदास की रामायण बनकर उभर आए। मैं आप से सच कहता हूँ कि साहित्य भी केवल उसी सीमा तक आध्यात्मिक होता है जिस सीमा तक रोटी के टुकड़े आध्या-

त्मिक कहे जा सकते हैं। साहित्य यदि आध्यात्मिक होता तो निःसन्देह आप इस समय मेरे कन्धों पर दो पंख उगे हुए देखते।

परन्तु ऐसा नहीं है। साहित्यिक भी अन्य प्राणियों की भाँति समाज का एक प्राणी है जिसकी कुछ आवश्यकताएं हैं और जिसके कुछ कर्तव्य हैं। वह उसी वातावरण में श्वास लेता है जिसमें आप लेते हैं। वह उसी शहर और उसी गली में रहता है जिसमें अन्य लोग रहते हैं। उसे भी जीवित रहने के लिए उतना ही संघर्ष करना पड़ता है जितना कि दूसरों को। इसलिए अनिवार्य रूप से साहित्यिक जो कुछ कहेगा या लिखेगा, वह जीवन से परे नहीं जा सकता। यह सत्य है कि साहित्यिक की कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती है परन्तु कल्पना भी जीवन की एक क्रिया है और इसलिए जीवन के अन्दर सीमित है। जीवन से परे कल्पना भी नहीं जा सकती। ऐसे समझिए कि जीवन एक बड़ा वृत्त है जिसके अन्दर कल्पना एक छोटा वृत्त है। और यह छोटा वृत्त बड़े वृत्त से बाहर नहीं जा सकता। यह एक ऐसी साधारण सी बात है जिसे समझने के लिए आवश्यक नहीं कि मनुष्य गणित का विशेषज्ञ हो।

जब यह बात समझ में आ जाती है कि साहित्य जीवन के साथ सम्बन्धित है और उससे किसी भी अवस्था में पृथक् नहीं हो सकता, चाहे वह शैक्सपीयर का नाटक हो या कालीदास का मेघदूत, बिथूवन का संगीत हो या गालिब की काव्य-रचनाएँ, टैगोर की गीतांजली हो या इक़बाल का पयामे-मशरिक़ हो। जब

यह बात इस ढंग से समझ में आ जाती है तो फिर आपत्ति करने वाला यह आपत्ति करता है और कहता है कि साहब आपका यह कहना कि साहित्य जीवन से उभरता है और जीवन के धुरे पर घूमता है और यदि कभी इस भू-मण्डल पर जीवन का प्रकाश लुप्त हो गया तो जीवन के साथ २ साहित्य भी मिट जाएगा, ठीक है, मान्य है, परन्तु आप साहित्य में प्रौपेगैन्डा (प्रचार) जो लाते हैं, वह बहुत बुरी बात है और कला-भावना को बड़ी अप्रिय लगती है, कानों को खटकती है (कितने कोमल हैं तुम्हारे कान मेरे मित्र !) । यह आप क्या अनर्थ करते हैं कि नायिका के सुन्दर मुख का वर्णन करते करते रोटी के टुकड़े पर आजाते हैं, और मधुमय होंटों की बात करते करते आप निर्धनता के चीथड़े गिनने लगते हैं और चाँदनी रातों में प्रकृति के अपार सौन्दर्य का गान करते करते आप किसानों की भूख पर उतर आते हैं। यह सब बातें प्रौपेगैन्डा है और साहित्य से दूर की बातें हैं। और इसलिए हमारी भावनाओं को आहत करती हैं (हाय, कितनी कोमल हैं तुम्हारी भावनायें मेरे मित्र !) । इसलिए आप इन बातों को साहित्य में स्थान न दीजिये ।

ये लोग जिनकी सौन्दर्य-भावना काँच की भाँति कची है और जिनके कान की झिल्ली अति कोमल है और जिनका हृदय रबड़ के फूले हुए गुब्बारे की भान्ति ठेस नहीं सह सकता, किसी अवस्था में भी साहित्य में प्रौपेगैन्डा सहन नहीं कर सकते। ये वह लोग हैं कि जहां आपने अपनी कहानी में भारतीय

किसान की दुर्दशा का चित्र खींचा वहीं इन लोगों ने उस कहानी को प्रौपेगैन्डा घोषित कर दिया और पुस्तक बन्द कर दी। जहां आपने अपनी कविता में ग्वालियर या ढाके के विद्यार्थियों पर गोली चलती दिखाई, वहीं पर इन्होंने उस कविता को प्रौपेगैन्डा बता दिया और उसे फाड़ कर फेंक दिया। जहां पर आप ने अपने नाटक में एक कारखाने के मालिक और एक मजदूर में अन्तर बताया, वहीं पर उन्होंने उस नाटक को 'आपत्तिजनक' कहकर जब्त कर लिया और उस पर साहित्य नहीं प्रौपेगैन्डा की मुहर लगा दी।

इसके विपरीत यदि आप अपनी कहानी में सुन्दर होंटों और गुलाबी गालों और घनी उलझी हुई काली लटों का वर्णन करते रहेंगे तो ये लोग मुँह से राल टपकाते हुए घन्टों सुनते रहेंगे। यदि आप अपनी कविताओं, उपन्यासों और नाटकों में गोरे मुखड़ों, मोहक अदाओं और प्रेम की दर्द-भरी तानों का वर्णन करते रहेंगे और उसमें आवश्यकतानुसार नग्नता की पुट भी दे देंगे तो फिर तो क्या कहने। ये लोग आपकी रचनाओं को लाखों की संख्या में मोल लेंगे, दूसरों को बेचेंगे और आप को संसार का सब से बड़ा लेखक घोषित करेंगे।

मुझे आश्चर्य इस बात का होता है कि इन लोगों के लिए सुन्दर होंटों का वर्णन प्रौपेगैन्डा नहीं परन्तु सुन्दर विचारों की चर्चा प्रौपेगैन्डा है। घनी उलझी हुई लटों का जिक्र प्रौपेगैन्डा नहीं परन्तु उलझी हुई मानवीय समस्याओं का उल्लेख प्रौपेगैन्डा है।

उज्ज्वल कपोलों का गुण-गान प्रौपेगैन्डा नहीं परन्तु किसी उज्ज्वल उद्देश्य की व्याख्या प्रौपेगैन्डा है।

प्रौपेगैन्डे की यह मन-घड़ंत परिभाषा किसी तर्क पर आधारित नहीं है। यह इन लोगों ने अललटप्प स्वयं निकाली है, अपना जी खुश करने के लिये। जो बात इनके जी को अच्छी लगी, उसे साहित्य कह दिया, जो अच्छी न लगी उसे प्रौपेगैन्डा बता दिया।

परन्तु वास्तविकता सदा किसी तर्क पर आश्रित होती है। वह एक निश्चित स्थान से आरम्भ होती है और एक निश्चित स्थान पर समाप्त होती है। उसका एक वातावरण होता है, एक प्रभाव क्षेत्र होता है, एक विशिष्ट स्वभाव और रंग होता है। उसके अन्दर परिवर्तन भी होता है और विकास भी होता है। इस वास्तविकता की खोज लगाना, इसकी तह तक पहुँचना, इसके स्वभाव और रंग को पहचानना और फिर इसकी वास्तविकता, उसके मूल रूप और तत्त्व को आप तक पहुँचाना, यह प्रत्येक साहित्यिक का कर्तव्य होता है और सब से प्रथम कर्तव्य होता है। कभी तो यह वास्तविकता होंटों की भाँति सुन्दर होती है और कभी दरिद्रता की भाँति कुरूप। कभी यह गुलाब के फूलों में हँसती है और कभी शहीद के रक्त में छलकती है। कभी यह वास्तविकता क्रान्ति के लोह की भांति कठोर होती है और कभी प्रेम के अश्रुओं की भाँति पिघल कर कोमल हो जाती है। एक वास्तविकता को साहित्य कहना और दूसरी वास्तविकता को

प्रोपेगैन्डा कहना कुछ उन्हीं लोगों को शोभा देता है जो शुतुर्मुर्ग की भाँति रेत में सिर छिपा कर कहते हैं—तूफ़ान कहीं नहीं है, चारों ओर रेत ही रेत है।

ये रेत के अन्धे इस तूफ़ान की वास्तविकता को क्या समझेंगे, इन बिफरी हुई हवाओं का रौद्र रूप कैसे देखेंगे, जो जब मानव जीवन के एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज की ओर चल पड़ती हैं तो एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज तक प्रत्येक पग पर मानव जीवन को एक सतह से उठा कर दूसरी ऊँची सतह पर पहुंचाती जाती हैं। और जो साहित्य जीवन को नीची सतह से ऊँची सतह तक उठाने में सहायक सिद्ध होता है, उसे हम लोग अच्छा साहित्य कहते हैं और हमारे शत्रु उसे प्रोपेगैन्डा कहते हैं। बात एक ही है। प्रोपेगैन्डा अर्थात प्रचार हर साहित्य में होता है और बिना प्रचार के कोई साहित्य नहीं होता—चाहे प्रेमिका के होंटों का प्रचार कीजिए या स्टालिन के होंटों का, परन्तु प्रोपेगैन्डा अवश्य है—प्रत्यक्ष न सही अप्रत्यक्ष सही, खुल्लमखुल्ला न सही परदे के पीछे से सही। प्रत्येक साहित्य साहित्यिक के विचारों का दिग्दर्शन होता है; जिस वातावरण से वह आया है उसकी व्याख्या करता है, उसका पक्ष लेता है। तटस्थता का कोई साहित्य नहीं होता। जीवन और मृत्यु में से किसी एक को चुन लेना होता है और हमने जीवन को चुन लिया है। जिन्हें मृत्यु प्रिय है वे उसकी गोद में चले जाएँ, हम सुमति देने के अतिरिक्त क्या कर सकते हैं।

साहित्य के सम्बन्ध में एक तीसरी भ्रमात्मक धारणा, जो प्रायः लोगों में पाई जाती है, वह यह है कि साहित्य का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। पहले पहल इस विचार के समर्थक कहा करते थे कि साहित्य का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब "सम्बन्ध नहीं है", "सम्बन्ध हो गया है" में परिणत हो गया है तो अब बड़ी विवशता-पूर्वक और कुछ मुँह बिसूरते हुए कहते हैं कि साहित्य का राजनीति से सम्बन्ध तो है किन्तु होना नहीं चाहिए। हाय क्या विवशता है !

मैं इन लोगों के इस कथन से सहमत हूँ कि साहित्य का सम्बन्ध राजनीति से नहीं होना चाहिए। मुझे स्वयं राजनीति पसन्द नहीं है और मैं इस से बहुत दूर भागता हूं। परन्तु क्या किया जाए कि आजकल जीवन की गति ही ऐसी है कि जैसे २ आप राजनीति से दूर भागते जाते हैं राजनीति आपके और निकट आती जाती है। यदि कभी ये महानुभाव जो हमें राजनीति से दूर भागने का परामर्श देते हैं इतना काम भी कर देते कि जीवन की कुछ बातों को राजनीत में सम्मिलित कर देते और शेष बातों को अलग छोड़ देते और कह देते कि भई अब तुम जानो और तुम्हारा काम, यह चीजें राजनीति में सम्मिलित हैं और यह चीजें सम्मिलित नहीं हैं, इस लिए तुम साहित्य में इनका समावेश कर सकते हो, तो कुछ बात भी बनती। परन्तु यह तो हुआ नहीं, और हुआ यह कि जीवन की प्रत्येक वस्तु राजनीति में सम्मिलित कर ली गई। खाना पीना, उठना बैठना, घर में रहना, घर से

बाहर जाना, कपड़े पहनना न पहनना, बातें करना न करना, वोट देना न देना, प्रत्येक बात राजनीति में सम्मिलित हो चुकी है। साहित्य का जीवन के साथ, जीवन का राजनीति के साथ और राजनीति का प्रौपेगैन्डा के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह कह देना बहुत आसान है कि भई साहित्य का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कहने को मैं भी कह सकता हूँ कि प्रत्येक मज़दूर का वेतन कम से कमएक हज़ार रुपए मासिक होना चाहिए। परन्तु मानव जीवन को समृद्धि के इस स्तर पर लाने के लिए, जिससे प्रत्येक मज़दूर एक हज़ार रुपए मासिक पा सके, कठिन परिश्रम और निरन्तर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। जब यह कार्य सिद्ध हो जाएगा उस समय जीवन और साहित्य इस प्रकार की राजनीति से मुक्त हो जाएगा, बल्कि एक सुखद अलौकिक आनन्द से ओतप्रोत हो जाएगा। परन्तु उस मंज़िल तक पहुँचने के लिये हमें इस मंज़िल से गुज़रना अनिवार्य है।

इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये मैं वर्ग-संघर्ष की ओर संकेत करूँगा। मैं आपके सामने कोई ऐसा विषय नहीं रखूँगा जो देश की राजनीति से सम्बन्धित हो, या आपकी स्थानीय परिस्थितियों से सम्बन्धित हो। मैं यह जताने के लिए कि साहित्य का राजनीति से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, किसी विवादास्पद राजनीति की चर्चा नहीं करूँगा। न मज़दूर का, न पूँजीपति का, न किसान का, न जागीरदार का, न गुलाम का, न मालिक का—मैं किसी ऐसी राजनीति का ज़िक्र नहीं करूँगा,

जिससे आपके कोमल हृदय को तनिक भी ठेस लगने की आशंका हो। मैं आपका दिल दुखाने नहीं आया हूँ इस लिए यहाँ पर मैं ऐसी कोई बात नहीं करूँगा जो प्रतिष्ठित सभासदों को अप्रिय लगे।

मैं यहाँ पर उस राजनीति का उल्लेख करूँगा जो मज़दूर और पूँजीपति, किसान और जागीरदार, गुलाम और मालिक, अमीर और गरीब, सब को समान रूप से छूती है, अर्थात जीवित रहने की राजनीति। प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहने का अधिकार मांगता है, चाहे वह मज़दूर हो, या पूँजीपति, दफ्तर में क्लर्क हो या फिल्म कम्पनी में 'स्टार', खेत में काम करने वाला किसान हो या ताजमहल होटल में रहने वाला रईस। प्रत्येक व्यक्ति जीने का अधिकार माँगता है और मेरे विचार में ठीक ही माँगता है। किसी की यह माँग अनुचित नहीं है। प्रत्येक मनुष्य जो इस धरती पर जन्म लेता है, उसे जीवित रहने का अनुकूल परिस्थितियों में विकास की मंजिलों से होकर जीवन बिताने का अधिकार प्राप्त है।

उन लोगों को भी जीवित रहने का अधिकार था जो द्वितीय महायुद्ध में मारे गए। उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार है जो आज कोरिया में मारे जा रहे हैं। आज यदि हम ने इस युद्ध को नहीं रोका तो कल जो तीसरा महायुद्ध होगा, उस में इस लेख को पढ़ने वाले जो बहुत से लोग मारे जाएंगे उनको भी जीवित

रहने का अधिकार होगा—होगा कि नहीं, यह आपकी राजनीति पर निर्भर है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आज जीवित रहने के अधिकारी का मामला राजनीति में सम्मिलित हो चुका है। जीवन आज मृत्यु की तराजू में तुल रहा है और मृत्यु के सौदागरों ने वे सब हथियार तैयार कर लिए हैं जिनसे इस भू-मण्डल पर जीवन का सदा सदा के लिए विनाश किया जा सकता है और इसमें मजदूर, पूँजीपति, जागीरदार और अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं। मृत्युदेव के अन्दर अन्तःकरण नहीं होता, वह अच्छे बुरे और गरीब-अमीर का भेद नहीं करता। उसका प्रहार सब पर अचूक होता है।

मैंने अपने जीवन में बहुत कुछ सोचा, बहुत सी बातों पर गहन विचार किया, परन्तु यह कभी नहीं सोचा था कि एक दिन ऐसा भी आएगा कि जीवित रहने के अधिकार भी विवादास्पद हो जाएंगे, जब कोयले के एक टुकड़े, तेल की एक बूंद, लोहे की एक कील और लाभ की एक पाई की अपेक्षा मानव जीवन को तुच्छ और व्यर्थ समझ लिया जाएगा, और वे लोग जो साहित्य में जीवन का समावेश करते हैं, जीवन की राजनीति के सम्बन्ध में लिखते हैं और केवल जीवित रहने का अधिकार माँगते हैं, विद्रोही, दुष्ट और मौत के घाट उतार दिये जाने योग्य समझे जाएँगे—जैसा कि आज मेरे उन साथियों के लिए कहा जा रहा है जो आज भारत और पाकिस्तान और समस्त संसार में मनुष्य

के लिए जीवित रहने का अधिकार माँगते हैं। हम जीवित रहने का अधिकार केवल अपने लिये ही नहीं माँगते वरन् अपने शत्रुओं के लिए भी यही अधिकार चाहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि शत्रुता और मित्रता दोनों का सम्बन्ध जीवन से है। मानव की समस्त चेष्टाएँ, उसकी जीवन-व्यवस्थाएं, उसका प्रेम, उसकी खुशियाँ और उसके आँसू सब जीवन से ही सम्बन्धित हैं। उस का आदि और उसका अन्त जीवन से है। इसलिए जीवित रहने का अधिकार मिलना चाहिए। इसलिए हम सब साहित्यिक साहित्य में जीवन और जीवन में राजनीति के समावेश का और राजनीति में जीवित रहने का अधिकार माँगते हैं। समाज के शत्रु हम नहीं जो जीवन के उपासक हैं, वरन् वे लोग हैं जो समस्त संसार को युद्ध की लपटों में झोंक देना चाहते हैं। इसलिए आज साहित्य राजनीति से पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि आज जीवित रहने का अधिकार भी राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में आ गया है। इसलिए अन्तिम बात जो मैं आप से इस समय पूछता हूँ—आप जो पढ़ने वाले हैं, आप जो लिखने वाले हैं, जो विचारक हैं, जिनके मुख मंडल देदीप्यमान हैं और जिनके हृदयों में उमंगें हैं, जो हमारे भविष्य के प्रतीक हैं—मैं आपसे पूछता हूँ कि मृत्यु और जीवन के इस घोर संघर्ष में आप किस ओर हैं ? आप भी कुछ सोचिए कि आपके चारों ओर क्या हो रहा है और आपको किस ओर जाना है—मुर्दों के साहित्य की ओर या जीवन के साहित्य की ओर, ऐसे साहित्य की ओर जो आपके

जीवन को मिटाना चाहता है, या ऐसे साहित्य की ओर जो आप को जीवन-संघर्ष में सहायता देता है और आपकी चेतना को तीव्र करता है। ऐसे साहित्य की ओर जो साहित्य-सेवी को समाज का एक उपयोगी और जिम्मेदार सदस्य बनाता है या ऐसे साहित्य की ओर जो साहित्यिक को सामाजिक अराजकता की ओर ढकेलता है।

मैं समझता हूँ कि यदि आप इस प्रकार विचार करेंगे तो आप हमारी ओर और भी अधिक आएंगे, क्योंकि आज हम केवल जीवित रहने का अधिकार मांगते हैं। समस्त मानव-समाज के लिए, जाति, धर्म, विश्वास, रंग और नस्ल का भेद किए बिना हम जीवित रहने का अधिकार मांगते हैं। हम प्रेम करने के लिए जीवित रहने का अधिकार मांगते हैं और सुन्दर चेहरों के लिये चमकने का अधिकार मांगते हैं और संसार के सारे बच्चों के लिये चिरकाल तक जीवित रहने का अधिकार मांगते हैं।

मायाकाफस्की पर एक दृष्टि

५.

१९१७ ई० की रूसी क्रान्ति ने जहां संसार में एक नई सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन-व्यवस्था की नींव रखी, वहां उसने हमारा एक नये साहित्य से भी परिचय कराया। जिस प्रकार सन् सत्रह की क्रान्ति राष्ट्रों के जीवन में एक तूफ़ान की भांति आई, उसी प्रकार यह नया साहित्य हमारे पुराने रुद्ध और दूषित साहित्यिक वातावरण में एक भूकम्प की भांति आया और लावे की तरह फट पड़ा। इस साहित्यिक प्रगति के युग में दो ज्वालामुखी चोटियाँ बहुत ऊँची दिखाई दे रही हैं—एक गोरकी है और दूसरा मायाकॉफस्की। एक गद्य-लेखक, दूसरा कवि। परन्तु स्वभाव से दोनों ही क्रान्तिकारी, समाजवादी तथा यथार्थवादी लेखक हैं। इन दोनों से समाजवादी यथार्थवाद आरम्भ होता है। ये साहित्य के इस नये युग के अनुयायी नहीं,

इस के प्रवर्त्तक, स्रष्टा और निर्माता हैं।

आज मायाकाफ़स्की का दिन है। आज से पैंतीस वर्ष पहले उसने अपनी एक विख्यात कविता में कहा था, "मैं बाईस वर्ष का युवक हूँ और मेरी आत्मा का एक बाल भी सफेद नहीं है।" यह बात आज भी सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। आज भी जब हम उनकी कविताएं पढ़ते हैं तो वह हमें एक व्याकुल, अशान्त और उद्विग्न आत्मा की भांति तरुण दिखाई देता है, जो अपने आप से आगे गुजर कर भविष्य में उड़ना चाहता है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मायाकाफ़स्की विगत कल की परीक्षा से निकल कर आने वाले कल के क्षेत्र अथवा वातावरण में पहुँच गया है, जहां वह एक स्वतन्त्र पक्षी के समान अमर मानवता के गीत गाता है—वे गीत जो कभी बूढ़े नहीं हो सकते, क्योंकि उनके पँखों का एक भी बाल सफेद नहीं है।

मायाकाफ़स्की की कविता का आरम्भ अथवा उद्भव भविष्यता से हुआ और वह रूसी काव्य में भविष्यवादी कविता का प्रवर्त्तक था। इस दल के लोग पुरानी परम्पराओं से ऊब कर और विमुख होकर नया मार्ग ढूंढ़ रहे थे। किन्तु अभी इन्हें कोई स्पष्ट और निश्चित मार्ग दिखाई नहीं देता था। इसलिये ये लोग अपनी निजी उपज और प्रतिभा के बावजूद जटिल और अस्पष्ट भाव-व्यञ्जना में खो जाते थे। १९१२ ई० में मायाकाफ़स्की ने एक कविता लिखी थी, जिसका शीर्षक है "मैं"। यह कविता उसके भविष्यात्मक युग की द्योतक है। किन्तु उसके जटिल और अस्पष्ट

भावाभिव्यञ्जना के बावजूद यह कविता अपने अन्दर उस मानसिक वेदना और संघर्ष का पता देती है जिसने आगे चलकर माया काफ़स्की को क्रान्ति का कवि बना दिया।

मेरी कुचली हुई आत्मा की सड़क पर
उन्मत्त व्यक्तियों के पग
असभ्य और खुर्दरे शब्दों के चिह्न छोड़ते जाते हैं
वहां नगरों को फांसी होती है
और मेघों के फन्दे में
ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों के शिखर
जम जाते हैं
और मैं चलता हूँ
और अकेले में रोता हूँ
कि सड़कों के दोराहे
पुलिस के सिपाहियों को सूली देते हैं।

यह १९१२ ई० की कविता है। इसी वर्ष मायाकाफ़स्की सत्रह वर्ष की एक लड़की मारिया अलेक्जेण्डरोना पर आसक्त हुआ और असफल रहा। मायाकाफस्की अपने जीवन-इतिहास में इसका कोई उल्लेख नहीं करता। किन्तु तीन वर्ष के पश्चात् अर्थात् १९१५ ई० में उसने अपनी सुविख्यात कविता "पतलून में बादल" लिखी जिसमें उसके प्रणय की टीस उठती हुई प्रतीत होती है। यह कविता उसने अपनी प्रेयसी को सम्बोधित करके आरम्भ की है। इस लम्बी कविता के चार निम्न भाग हैं :—

(१) धिक्कार है तुम्हारे प्रणय पर।

(२) धिक्कार है तुम्हारी कला पर।

(३) धिक्कार है तुम्हारे समाज पर।

(४) धिक्कार है तुम्हारे धर्म पर।

ऐसा जान पड़ता है कि ये चार फलाँगें लगा कर मायाकाफस्की ने अपना नया मार्ग ढूँढ लिया। जब उसने समाज की गन्दगी, मलिनता और नग्नता को अपने निजी अनुभव से परख लिया, जब उसकी प्रेयसी भी पूँजीवाद के बाजार में तुल गई तो उसने हाथ मलकर निराशा से कहा—

मैंने केवल एक वस्तु देखी।

तुम एक कपिला गाय के समान सुन्दर थीं।

जिसे चुराना अत्यावश्यक था।

और वे तुम्हें चुरा कर ले गये।

और जब उसने यह चोरी और सीनाजोरी देखी तो उससे रहा नहीं गया :—

यह मेरा अन्तिम चीत्कार है।

जाओ सारे संसार में घोषणा कर दो।

मैं अग्नि-शिखा की भांति जल रहा हूँ।

इस कविता में बड़ी अछूती और अपूर्व उपमाएँ हैं। जैसे—

मैं सर्वथा नम्र और कोमल हो सकता हूँ।

जैसे मैं मानव नहीं।

प्रत्युत् पतलून में बादल।

या जहाँ वह बीमार समाज के पुरुषों को "बिछौने से लदे हुए हस्पताल" कहता है और स्त्रियों को "घिसे हुए मुहावरे।"

गोरकी ने इस वर्ष उसकी यह कविता और दूसरी कविताएँ पढ़ीं और उसके भावों की उच्छृङ्खलता के बावजूद उसकी काव्यात्मक प्रतिभा को स्वीकार किया और उसका उत्साह बढ़ाया और उससे कहा कि यदि अध्ययन करके और काम करके ठीक ढँग से लिखोगे तो बहुत उच्च कोटि की कविता करने लगोगे।

इस कविता में मायाकाफस्की ने क्रान्ति की धमक को बड़ी तीव्रता से अनुभव किया है। मायाकाफस्की जो सदा जीवन से आगे चलने का इच्छुक था स्पष्ट रूप में भविष्य की प्रखर झलक देख रहा था और अपने सहयोगियों से कह रहा था—

मैं,

जिसे मेरे सहयोगी

एक लम्बे, दुबले, घिसे हुये छन्द के समान बेकार समझ कर हँसी उड़ाते हैं।

मैं वह देख रहा हूँ जो और कोई नहीं देख सकता, वह जो समय के पहाड़ों पर उड़ता हुआ चला आ रहा है, वह, वहाँ, जहाँ मनुष्य की दृष्टि लहरों की भांति भूखे मनुष्यों के सिरों से रुक जाती है।

मैं १६१६ को देख रहा हूं

क्रान्ति का कटीला मुकुट पहने हुए!

क्रान्ति १६१६ ई० के स्थान पर १६१७ ई० में आई। किन्तु मायाकाफस्की की तीव्र दृष्टि कुछ अधिक भटकी भी नहीं थी।

१६१७ ई० के क्रान्तिमय युग ने मायाकाफस्की की काव्यात्मक प्रतिभा और सामग्री में गहन परिवर्तन उत्पन्न किया। उसने अपने आपसे लड़कर भविष्यवाद की पुरानी केंचुली को उतार फेंका और तुमुल उत्साह के साथ क्रान्तिमय कार्यों में भाग लेने लगा। इस साम्यवादी यथार्थवाद का यह एक मूल सिद्धान्त है कि कर्म ही रचना है। इस विषय में मायाकाफस्की बड़ा सौभाग्यशाली था क्योंकि वह केवल कविता ही नहीं करता था। वह कला पर भाषण भी देता था। मजदूरों में जाकर अपनी कवितायें सुनाता था और उनकी आलोचनायें भी सुनता था। वह रेलवे के लिए पोस्टर लिखता था और सिनेमा के लिये कथानक तैयार करता था और स्वयं भी फिल्म में काम करता था। वह सोफ़े पर बैठकर काव्य-रचना करने वाला कलाकार न था जो जन-साधारण की दैनिक रुचियों और संघर्षों या प्रायः उकता देने वाले कामों से विलग रहकर अपने आपको उनसे श्रेष्ठ और ऊँचा समझ कर काव्य-रचना करता हो। वह जन-साधारण का कवि था। उस क्रान्तिकारी मजदूर का कवि था, जिसने क्रान्ति का मार्ग अपने रक्त से धोया। वह उस दल का कवि था, जिसके नेतृत्व में उसने क्रान्ति की पताकायें संसार के छठे भाग पर ऊंची होती हुई देखी थी। वह उस "कल" का कवि था, जो संसार के शेष ⅚ भाग पर

आ रहा है। उसका व्यक्तिगत भविष्यवाद सामूहिक क्रान्तिमय प्रयत्नों में परिवर्तित हो गया था और अब उसकी शून्य आत्मा के दोराहों पर कोई पुलिस के सिपाहियों को फांसी नहीं दे रहा था, प्रत्युत् वहां तो अब हँसती खेलती हुई रूसी जनता थी और उस के अपने सिपाही थे और अपने सैनिक, अपने साहित्यिक, अपने कवि और कलाकार थे और मायाकाफस्की इस क्रान्तिमय उल्लास को साक्षात्कार करके कह रहा था—

हम अपनी गलियों के ब्रुश से
मार्ग के चौकों पर चित्र खींचेंगे
और
पन्द्रह करोड़ व्यक्ति मेरे होंठों से बोलेंगे।

आज इन होंठों से चीन के चालीस करोड़ मनुष्य भी बोल रहे हैं और कभी इन होंठों से भारत के तीस करोड़ मनुष्य भी बोलेंगे, क्योंकि मायाकाफस्की के काव्य और इतिहास का अनुरोध भी यही है कि यह गीत सदा तरुण रहे और यह जगत् नन्दन-कानन के समान बन जाए।

मायाकाफस्की बड़ा योद्धा और लड़ाका कवि है। कुछ लोगों को उसके भावों की अस्तव्यस्तता और उसकी वर्णन-शैली की आकुल तीव्रता पसन्द नहीं आती। कुछ लोग कवि को बुलबुल का बच्चा समझते हैं। किन्तु मायाकाफस्की अपने आप को क्रान्ति का बेटा समझता था। वह मृत और प्राण-हीन शब्दों से काव्य का घरौंदा नहीं बनाता था, अपितु नये लड़ते हुए शब्दों से जो

युद्ध के बारूद की भाँति उड़ जाने वाले हों, अपने काव्य के कपड़े बुनता था। कई बार उससे लोगों ने कहा—'भई, तुम अपनी कविताओं में ऐसे कठोर और खुर्दरे शब्द क्यों प्रयोग करते हो जो भले आदमियों को शोभा नहीं देते', तो वह कहता, शब्द भले नहीं होते वे जीवित अथवा मृत होते हैं। मैं जीवित शब्द प्रयोग करता हूं जिन्हें हमारे नागरिक और काम करने वाले दिन-रात प्रयोग करते हैं। मैं निःसन्देह वे शब्द प्रयोग नहीं करता जो बड़े-बड़े शब्द-कोषों में समाधिस्थ हैं या ड्राइंग रूम के गंदे जोहड़ों में कुलबुलाते फिरते हैं। मैं तो जीवित और सबल शब्दों का मानने वाला हूँ। शायद इसीलिये मायाकाफस्की की कवितायें आज भी उतनी ही जीवित और बलवान जान पड़ती हैं। वे परिश्रमी सुदृढ़ हाथों की भाँति खुर्दरी हैं और पतलून वाले बादल की तरह कोमल भी। मायाकाफस्की के काव्य में एक ऐसी नवीनता और ताजापन है जैसे हड़ताल के समय कर्मचारियों की मीटिंग में होता है। उसकी कविताओं में शत्रु से युद्ध करने का भयानक रौरव, और तोपों का घन-गर्जन पाया जाता है। बीथोवन की भाँति मायाकाफस्की भी मेघों के साथ गाता है। इस सम्बंध में मुझे प्रायः मायाकाफस्की की वह कविता याद आती है जो उसने पेरिस में एफ़ल टावर को देखकर लिखी थी। एफ़ल टावर का भी मायाकाफस्की की भान्ति ऊँचा क़द है और इसलिये यह कविता दो महा-मानवों का वार्तालाप प्रतीत होता है। मायाकाफस्की टावर से कहता है—

टावर !

क्या तुम क्रांति के नेता बनना चाहते हो ?

तो आओ, टावर

हम तुम्हें नेता चुनेंगे

आओ कि यह स्थान तुम्हारे लिये ठीक नहीं है

यह पैरिस, वेश्याओं और प्रतिक्रियावादी कवियों का

पैरिस !

तुम्हारे लिये ठीक नहीं है

डरते हो टावर

गलियों से मत डरो

तुम डरते हो ?

हम तुम्हारी रक्षा के लिये ट्रेक्टरों के

झुण्ड के झुण्ड लायेंगे

अब भी डरते हो ?

मैं पुलों को भी मना लूँगा तुम्हारी रक्षा के लिये यद्यपि तैर कर जाना सुगम नहीं है

फिर भी तुम्हारे लिये, पैरिस के नागरिक सृष्टि से लदे हुए पुल

जो हमारी आवाज़ पर पहले ही हिलते हैं, उठ खड़े होंगे

और अत्याचारियों को लोहे की सलाखों से टुकड़े २ कर देंगे

× × ×

आओ टावर !

हमारे यहां आ जाओ !

यहां तुम्हारी आवश्यकता है

चमकते हुए फौलाद

धूएँ में मुस्कुराते हुए

आ जाओ

हम तुम से मिलेंगे

तुम्हारा स्वागत करेंगे

अपनी पहली प्रेयसी से उत्तम

मास्को में आ जाओ

मास्को खुला है

प्रत्येक व्यक्ति तुम्हें अपनी गली में रखना चाहेगा

प्रत्येक व्यक्ति तुम से प्रेम करेगा

दिन में एक सौ बार हम तुम्हारे फौलाद और ताम्बे को पालिश करके सूर्य के समान चमका देंगे

इस पैरिस को छोड़ दो

वह पैरिस जो छबीले लफङ्गों का नगर है

वह पैरिस जहां जम्हाइयां लेते हुए

राज पथ फैले हुए हैं

उस पैरिस को
बोलोन के जंगलों, अजायबघरों और
लूवर के क़ब्रिस्तानों में
समाप्त होने दो
क़दम बढ़ाओ टावर

निश्चय रक्खो टावर
आज तुम्हारे इर्द-गिर्द चारों ओर
क्रांति फैल रही है;
और पुराने पैरिस की धज्जियाँ बिखर रही हैं !

यह कविता आज भी कितनी यथार्थ और सत्य जान पड़ती है। मानो यह कविता मायाकाफस्की ने १६२२ में नहीं १६५० में सैनिक-विधान-ग्रस्त पैरिस में बैठ कर लिखी हो। कुछ लोग मायाकाफस्की का दिन ऐसे मनाते हैं जैसे वह अतीत के अन्धकार में प्रवेश कर चुका हो परन्तु वह तो आज भी जीवित है। हमारा साथी है। हमारे दैनिक संकटों और कठिनाइयों पर विचार कर रहा है और आने वाली क्रांति का संदेश-वाहक बन कर हमें आगे का मार्ग दिखा रहा है। यह मार्ग, जो उसने मार्क्स से और लेनिन और स्टालिन की बॉल्शेविक पार्टी से सीखा है। आज

पैरिस का एफ़ल टावर सचमुच मास्को के वातावरण में घूम रहा है। आज वह अपनी आँखों से पैरिस की गलियों में शान्ति-सम्मेलन के जलूस देख रहा है, शान्ति-प्रिय मज़दूरों की विरोधात्मक हड़तालें देख रहा है, जो एक बन्द मुट्ठी की भांति तीसरे महा-युद्ध का मार्ग रोके हुए हैं। आज फ्रांस के साहसी मज़दूरों ने पुराने पैरिस की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। आज जंग-बाज़ों और सट्टा-बाज़ों और वेश्यागामियों का साम्राज्यवादी पैरिस केवल लूवर के कब्रिस्तानों ही में नहीं प्रत्युत् वीयतनाम के खेतों में भी दफ़न किया जा रहा है और सारे संसार के चोर-बाज़ार भयभीत होकर अपनी आँखों के सामने अपनी क़ब्र को खुदते हुए देख रहे हैं।

मायाकाफस्की के जीवन के अन्तिम दिवस अच्छे नहीं बीते। वह जो जन-साधारण का कवि था, और मज़दूरों का प्रिय और चहेता था, कुछ धोखा-बाज़ विश्वासघातकों के हथकण्डों का शिकार होकर आत्महत्या करने के लिये विवश हुआ।

यह १६३० ई० की घटना है। वास्तव में उन दिनों समाज-वादी रूस की विकसित होती नई सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से रूस के बाहर और भीतर क्रान्ति विरोधी दलों ने अपना जाल बिछाना आरम्भ किया था। यह लोग जीवन के

विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे थे और उनकी चेष्टा यही थी कि किसी प्रकार से क्रान्ति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असफल और व्यर्थ किया जा सके ताकि आगे चलकर स्पष्ट और खुले रूप में प्रतिक्रियात्मक क्रान्ति-विरोधी व्यवस्था फिर से रूस में स्थापित की जा सके। यह लोग सुसंगठित और सुव्यवस्थित होकर बहुत समय से काम कर रहे थे, जैसा कि बाद में विविध प्रकार की जाँच से सिद्ध हुआ और विश्वासघात करने वालों को यथोचित दण्ड दिया गया। परन्तु इससे पहले इन लोगों ने माया-काफस्की के प्राण ले लिये। उन्होंने गोरकी को भी विष दिया और उसे जान से मारने के प्रयत्न किये। स्टालिन की दृष्टि सब से पहली बार इन अपराधियों और विश्वासघातकों के षड्यंत्रों को नग्न करने में सफल हुई। उनकी बुद्धिमत्ता ही से गोरकी बच गये। मायाकाफस्की के प्राण तो न बचाये जा सके परन्तु उसकी काव्यसम्पत्ति को, जिसे प्रतिक्रियावादियों ने जनता की दृष्टि से दूर हटा दिया था, जनता के हाथों में दे दिया गया और जनता ने जिस प्रकार मायाकाफस्की को चाहा और उसे प्यार किया, इस का एक प्रमाण पिछले महायुद्ध में एक रूसी सिपाही के पत्र से मिलता है जो उसने गोलियों से छलनी की गई कविताओं की एक पुस्तक को मायाकाफस्की म्यूज़ियम में भेंट करते हुए लिखा था। यह पुस्तक मायाकाफस्की की रचनाओं का संग्रह था। यह पुस्तक स्थान-स्थान से गोलियों से छलनी हो गई थी क्योंकि सिपाही इसे सदा अपने साथ रखता था और उसका विचार था कि अपने देश

की जनता के लिये मायाकाफस्की के गीत ही सर्वोत्तम गीत हैं।

हमारे देश में भी आज मायाकाफस्की के बीसियों, नहीं नहीं सैंकड़ों, अनुयायी विद्यमान हैं, जिन पर प्रतिक्रियावादी उसी तीव्रता और मक्कारी से आक्रमण कर रहे हैं। ये कवि जो जनता के गीत गाते हैं, आज जेलों में बन्द हैं या पुलिस के वारण्ट से विवश होकर गली-गली मारे-मारे फिर रहे हैं। इन में से कुछ लोग संकरन की भाँति बलिदान भी हो चुके हैं और कुछ ऐसे हैं जिनके सिरों के ऊपर फांसी का फंदा झूल रहा है। ये कवि जो मजदूरों और किसानों की साहित्यिक निधि हैं, पूंजीवाद और जागीरदारी के पांव तले रौंदे जा रहे हैं। ये लोग जो हमारे तीस करोड़ देशवासियों की आत्मा हैं, ये लोग आज जहां भी हैं मखदूम महीउद्दीन की भाँति तलंगाना में, अली सरदार जाफ़री और न्याज़ हैदर की भाँति नासिक जेल में, सुलेमान की तरह किसी अज्ञात स्थान पर, कैफ़ी आज़मी और मजरूह सुलतानपुरी की तरह अज्ञात नगर की या गाँव के अज्ञात आश्रय स्थान में, जहां भी यह लोग और इनके सैंकड़ों साथी हैं, ये लोग आज मायाकाफस्की के काव्यात्मक गौरव की वन्दना करते हैं, उस मातृभूमि की वन्दना करते हैं जो मायाकाफस्की का देश है और प्रतिज्ञा करते हैं कि ये लोग भी अपने करोड़ों देशवासियों के साथ मिलकर शान्ति की पताका की छाया में नये जीवन के लिये लड़ेंगे और शांति के संदेश को सूर्य की किरणों की भांति चारों ओर सारे संसार में फैला देंगे। इस संदेश के प्रसार में साहि-

त्यिकों, कलाकारों और कवियों का कितना बड़ा भाग है, इसे माया-काफस्की ने बड़ी अच्छी तरह से अनुभव किया था और उसे अपनी कविता "जीवन का कवि" में यूँ अभिव्यक्त किया है—

मैंने सूर्य से चिल्ला कर कहा—
ठहरो, सुनो निर्लज्ज आँखों वाले
सदा की भाँति पश्चिम में डूब जाने से क्या यह अच्छा नहीं,
कि तुम मेरे पास आकर चाय पियो !

अरे यह मैंने क्या कर दिया
मैं मर गया
सूर्य तो इधर आ रहा है
अपनी किरणें आगे बढ़ाये फैलाए हुए
वह सामने के खेत से फलांगता हुआ इधर आ रहा है मेरी ओर
अब मैं क्या करूँ
यह प्रकट करूँ कि मैं कायर नहीं
या भाग जाऊँ
अब सूर्य की आँखें मेरे उद्यान पर हैं
अब वह खिड़कियों, द्वारों और पर्दों से भीतर घुसा चला आ रहा है

भारी भरकम सूर्य भीतर आ रहा है
और अपना सांस ठीक करके मुझ से भारी आवाज़ में
कहता है
सृष्टि के पश्चात् पहली बार मैंने अपनी गर्मी तेरे लिये कम
की है ।

तुम ने मुझे बुलाया है
तो चाय लाओ कवि !
देखना, कहीं मुरब्बा न भूल जाना ।

और यद्यपि गर्मी से मेरा बुरा हाल था
और मैं पसीने के तूफान में डूबा जा रहा था
मैंने समावार तैयार किया, और सूर्य से कहा, बैठो कामरेड
मैंने शैतान की भाँति चिल्ला कर सूर्य से कहा
और उसके सामने अपनी कुर्सी के किनारे पर बैठ गया
डर रहा था न जाने आगे क्या हो
किन्तु सूर्य से एक अद्भुत ज्योति निकल रही थी
और वह व्याकुल प्रतीत नहीं होता था
इसलिये मैं भी अपनी व्याकुलता भूल गया
और निःशंक उससे बातें करने लगा
मैं बातें करता रहा

इधर की उधर की
और शीघ्र ही
हम दोनों मित्र बन गये
और मैंने उसकी पीठ पर थपकी दी
और सूर्य भला कहाँ मौन रहने वाला था, उसने कहा
बहुत अच्छा कामरेड ! हम दोनों में खूब निभेगी
आओ चलें कवि
तुम गाना
और चिल्ला कर संसार से अंधकार को दूर भगाना
और मैं प्रकाश को फैलाऊँगा
और तुम अपनी काव्य-श्री फैलाओगे
फिर सूर्य ने किरणों की कमंद फेंकी
और रात का चोगा टुकड़े टुकड़े हो गया
और सारा अंधकार विलुप्त हो गया
अब किरण और शब्द
जगमगाते हैं
और जब सूर्य थक जाता है
और मदमाती रात ऊंघना चाहती है
तो मैं जग उठता हूँ
और अपनी पूरी शक्ति से प्रकाश फैला देता हूँ
और दिन फिर चढ़ आता है
सदा चमकने के लिये, सर्वत्र चमकने के लिये ।

सूर्य का साथी मायाकाफ़स्की सदा और सर्वत्र चमकेगा, बड़े बड़े स्थानों पर जहाँ महान कवि और साहित्यिक रहते हैं, और छोटे छोटे स्थानों पर भी जहाँ सैंकड़ों अज्ञात साहित्यिक ख्याति के प्रति उदासीन रहकर अपना काम किये जाते हैं।

हम लोग ख्याति से बाज़ी ले जायेंगे
क्योंकि हम साथी हैं और भाई हैं
और लड़ाइयाँ जीतकर
हम सब अपना एक स्मृति-चिह्न बनायेंगे—
साम्यवाद !

शान्ति की खोज

६.

मैंने अभी पिछले दिनों बम्बई के एक समाचार-पत्र में अमरीका के राष्ट्रपति मिस्टर ट्रूमन का एक वक्तव्य पढ़ा जिसमें उन्होंने संसार को बताया था कि अमरीका ने एटम बम के अतिरिक्त ऐसे विलक्षण हथियारों का आविष्कार कर लिया है जो सारी मानव-सभ्यता को कुछ ही देर में नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। माननीय ट्रूमन साहब एक पूँजीवादी सरकार के सर्वोच्च और बड़े जिम्मेदार अध्यक्ष हैं इसलिए इनका वक्तव्य पूरे ध्यान से पढ़ा जाना चाहिए। यह याद रहे कि उन्होंने यह नहीं कहा कि इन अद्भुत शस्त्रों से केवल साम्यवादी सभ्यता को ही मिटाया जा सकता है। उन्होंने यह कहा है कि इन शस्त्रों से पूरी मानव सभ्यता को मिटाया जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन हथियारों से केवल साम्यवादी सभ्यता ही नहीं, वरन् स्वयं

अमरीकी सभ्यता भी खतरे में है ।

कुछ लोगों के मन में अमरीकी सभ्यता के सम्बन्ध में अनेकों संदेह और संशय हैं । कुछ लोग इसे हॉलीवुड की फिल्मों में प्रतिबिम्बित समझते हैं जिनमें सभ्यता के स्थान पर नंगी टाँगों, लम्बे चुम्बनों, और पिस्तौल की गोली का अधिक भाग होता है । आप अपने नगर में किसी अमरीकी फ़िल्म के विज्ञापनों में बहुधा एक ऐसे अमरीकी का चित्र देखेंगे जो हाथ में पिस्तौल लिये खड़ा है । बहुधा इस पिस्तौल की नाली का रुख आपकी ओर होता है—और इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल अमरीका की पिस्तौल का रुख एशिया की छाती की ओर है, अर्थात् हमारी और आपकी छाती की ओर है । परन्तु मैं हॉलीवुड की फ़िल्मों को अमरीकी सभ्यता का प्रतीक नहीं मानता । मैं अमरीकी ठेकेदारों और पूँजीपतियों के पिस्तौल को भी अमरीकी सभ्यता का द्योतक नहीं मानता । मैं उन लोगों में से भी नहीं हूँ जो क्रोध में आकर अमरीकी सभ्यता के अस्तित्व को ही मानने से इन्कार कर देते हैं । मैं इस व्यवहार को ठीक नहीं समझता । यद्यपि अमरीकी पूँजीवाद से मेरा विरोध किसी से कम नहीं है, फिर भी हम इस विरोध और घृणा के प्रभाव में आकर एक पूरे के पूरे राष्ट्र को अपराधी नहीं ठहरा सकते ।

अमरीकी सभ्यता मौजूद है, और इसकी बड़ी उत्तम परम्पराएं हैं । मैं इन परम्पराओं में उन सारे लोगों के गीतों को सम्मिलित करता हूँ जो यूरोप के भिन्न २ देशों से अमरीका गए और वहां

उन्होंने उत्तरी अमरीका के विस्तृत भूखण्ड पर अपने कठोर परिश्रम से, अपने बाल-बच्चों की सहायता से और अपने पड़ौसियों की सहायता से जंगल के जंगल साफ़ किये और इतनी विस्तृत भूमि को मनुष्य के बसने योग्य और इसे मानव सभ्यता के फैलने के उपयुक्त बनाया। मैं इन परम्पराओं में उन सारे हब्शियों को स्थान देता हूँ जो अफ्रीका से अमरीका लाए गए—अफ्रीका के जवान बेटे, जो अफ्रीका के जंगलों में पले, जहाँ हरे रंग के तोते चहकते हैं, जहां झीलों में दरियाई घोड़े हवा को सूँघते हुए तैरते फिरते हैं, और जहां लम्बी गर्दनों वाले जराफ़ वृक्षों की चोटियों से बातें करते हैं। इस सुन्दर देश के जवान बेटे दक्षिणी अमरीका में ले जाए गये और यहां उन्होंने अपने गोरे प्रभुओं के अनन्त अत्याचारों के बावजूद एक सुन्दर संसार का निर्माण किया—जिसमें गेहूं और रूई के सैंकड़ों मील लम्बे खेत और भेड़ों, गायों, भैंसों व घोड़ों के विशाल रेवड़ सम्मिलित हैं। दक्षिणी अमरीका का सारा वैभव, सारा धन, सारी प्रतिष्ठा, आतिथ्य, जागीरदाराना शान—सब इन अमरीकी हब्शियों के कठोर परिश्रम का फल है। मैं इन हब्शियों के गीतों को, इनके 'कैरोलों' (Carols) को, इन के 'जाज़' (Jazz) को और इनके अफ्रीकी संगीत की नाचती हुई धुनों को अमरीकी सभ्यता की महत्त्वपूर्ण विभूति मानता हूँ।

अमरीकी परम्पराओं में जॉर्ज वाशिंगटन और उनके साथियों का वह महान् संघर्ष है जो उन्होंने अपने देश की स्वाधीनता के

लिये किया। इन परम्पराओं में टॉम पेन की वह अगाध प्रेम-भावना है जो उसके मन में मानव-भ्रातृत्व, समता, सहिष्णुता और एकता के सम्बन्ध में थी। इन परम्पराओं में आप अमरीका के विख्यात प्रेजिडैंट मिस्टर विलसन के उन प्रयत्नों को सम्मिलित कर सकते हैं जो उन्होंने संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये किये। इन सब से ऊपर अमरीकी परम्पराओं में अब्राहम लिंकन है जिसके व्यक्तित्व के अन्दर अमरीकी सभ्यता के सुन्दरतम और उच्चतम गुण एकत्रित हैं।

इन महान् व्यक्तियों के अतिरिक्त अमरीकी परम्पराओं में मैं उन समस्त अमरीकी विचारकों, लेखकों, कवियों इत्यादि को गिनता हूँ जिन्होंने अमरीकी सभ्यता का ताना-बाना तैयार किया, इस को सजीव बनाया, उस को संगठित किया और इसके माथे पर प्रेम और मानवता का टीका लगाया। इन में इमरसन जैसे दार्शनिक हैं, वॉल्ट ह्विटमैन जैसे कवि, सिंक्लेयर लूई जैसा व्यंगात्मक लेख लिखने वाला, पॉल रौब्सन जैसा संगीतज्ञ, हावर्ड फ़ॉस्ट जैसा गल्प लेखक, और चार्ली चैपलिन जैसा मानवता-प्रेमी। ये सब तथा अन्य इन जैसे अनेक व्यक्ति—वे जिनके नाम भी हम नहीं जानते, जो अमरीका के गांवों और नगरों में रहते हैं, जो अपने बाल-बच्चों से प्यार करते हैं, बेस-बॉल खेलते हैं, आवश्यकता पड़ने पर अपने पड़ौसियों की सहायता करते हैं। ऐसे लाखों करोड़ों अमरीकी, भले मनुष्य, ईमानदार, सच्चे, अपने उद्यम से रोटी कमाने वाले, अमरीकी सभ्यता के विशाल भंडार

और दाय में बढ़ोतरी करते रहते हैं। ये सब लोग अमरीकी सभ्यता की सुन्दर परम्पराओं के द्योतक हैं।

परन्तु इन परम्पराओं में मैं उन लोगों को कोई स्थान नहीं देता जिन्होंने अपने हित के लिये अमरीका के लाखों आदिम-निवासियों को मौत के घाट उतार दिया, जिन्होंने उनकी उनके अपने देश में अछूतों से भी बुरी हालत बना दी और उनके निवास के लिये नगरों और गाँवों से दूर सरकस जैसे अहाते बना दिये। इन परम्पराओं में एडमिरल पेरी को कोई स्थान नहीं मिल सकता—वह जिसने सबसे पहले जापान पर आक्रमण किया और तलवार के जोर से वहाँ अमरीकी व्यापार के लिये रास्ता बनाया। इन परम्पराओं में मिस मेयो का कोई स्थान नहीं है जिसने हमारी पाँच सहस्र वर्ष पुरानी सभ्यता को बेहूदा गालियाँ दीं। वे अमरीकी भी इन परम्पराओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखते जो अपने देश के हब्शियों को तेल छिड़क कर जीवित ही भस्म कर देते हैं। और वे अमरीकी कोयले, लोहे और तेल के "बादशाह" भी जो फिलिपाइन से लेकर सौदी-अरब तक और सौदी-अरब से लेकर मराक्श तक के समस्त देशों के कच्चे माल पर अधिकार किये बैठे हैं, इस परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अमरीका के ऐटम बम, टैंक और सैनिक हवाई जहाज़ और गोला-बारूद जो कोरिया के मैदानों में एशियाई रक्त बहा रहे हैं, इस सभ्यता के अंग नहीं हैं। इन सब हत्याकांडों का मूल-कारण डालर है। आज अमरीकी सभ्यता पर डालर छाया हुआ

है, परन्तु वास्तव में डालर इस सभ्यता का अंग नहीं हो सकता। डालर मनुष्य के रक्त का बदल नहीं है। संसार का कोई बड़े से बड़ा सिक्का या बड़े से बड़ा हीरा जनता के रक्त का मूल्य नहीं हो सकता—यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

इसलिये मैं अमरीकी पिस्तौल की गोली को अमरीकी परम्पराओं में सम्मिलित नहीं करता। पिस्तौल की गोली किसी ठोस युक्ति का उत्तर नहीं हो सकती। स्वयं अमरीका का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो गोली अब्राहम लिंकन की छाती के पार निकली वह लिंकन का उत्तर नहीं थी—ठीक उसी तरह जिस तरह हलाहल का प्याला सुकरात का उत्तर नहीं था, फांसी की रस्सी भक्तसिंह का और सूली ईसा मसीह का उत्तर नहीं थी और गोडसे की गोली गाँधी का उत्तर नहीं थी। गोली केवल मात्र मनुष्य की छाती को तोड़ सकती है, उसके हृदय के अन्दर जो विचार होता है उस को वह छू भी नहीं सकती। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में बर्तानवी संगीनों की नोकें कितने ही शूरवीर बाँके भारतीयों की छाती के आर-पार हो गई, परन्तु उस नोक का एक इंच का सहस्त्रवां भाग भी स्वतंत्रता की हमारी अभिलाषा को नहीं छेद सका। इसलिये मैं इस पिस्तौल को जो एशिया की छाती पर तना हुआ है, अमरीका की उच्च परम्पराओं में नहीं गिनता।

इन सब बातों से अलग और इन सब से ऊपर कुछ और बातें हैं जो वास्तव में अमरीकी संस्कृति की और वहां की उच्च

परम्पराओं की द्योतक हैं—उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, अंग्रेजी संस्कृति, रूसी, ईरानी, मिश्री और अरबी संस्कृति के अपने २ अमूल्य विशिष्ट तत्त्व हैं। ये परम्पराएं प्रेम, सहनशीलता, परिश्रम, ज्ञान, विज्ञान, बुद्धिवाद, साम्यता, पड़ौसी से सहानुभूति तथा दूसरी ऐसी ही कई बातों पर आश्रित हैं। ये ऐसी ही सुन्दर हैं जैसा एक चित्र, एक बच्चा, एक पुस्तक, एक गीत, एक शीशा, एक हँसता हुआ शिशु, दूध पिलाती हुई माँ, अथवा भाई के हाथ में राखी बांधती हुई बहिन, अथवा एक सुन्दर विचार, जैसे लूथर का, 'गालिब' का, अथवा लैनिन का, एक खोज जैसे न्यूटन की, जैसे आइन्स्टाइन की, एक पुष्प जैसे गुलाब का, जूही का, चम्बेली का, एक खुलता हुआ अट्टहास, एक बेटा बाप की गोद में......ये और ऐसी ही अन्य सैंकड़ों छोटी २ चीजें, संकेत, भावनाएं, विज्ञान और कला की बातें मानवी सभ्यता की अमूल्य निधि हैं, उसके मूल स्रोत और अमूल्य तत्त्व हैं। आज इन सब को लड़ाई से खतरा है, तीसरे महायुद्ध से खतरा है, परमाणु बम तथा इसी प्रकार के उन पैशाचिक अस्त्र-शस्त्रों से खतरा है जिनकी ओर अमरीका के राष्ट्रपति महामान्य श्री ट्रूमैन साहब संकेत करते हैं। यह खतरा कोई दूर नहीं है और इसका कारण राजनैतिक है और राजनैतिक से बढ़कर वैज्ञानिक है।

पहले मैं वैज्ञानिक कारण को लेता हूँ। आप जानते होंगे कि आदिम युग में मनुष्य पत्थर के अस्त्र काम में लाता था—एक

कुल्हाड़ा या एक बर्छा या एक तीर-कमान । इनसे एक मनुष्य एक समय में एक ही व्यक्ति को मार सकता था, और कई बार वह एक व्यक्ति भी बच जाता था। फिर वह पिस्तौल आया जिसके संबंध में मैंने ऊपर संकेत किया है—अर्थात् छः खानों वाला। बन्दूक, राइफल भी आई। इन से एक ही समय में एक से अधिक आदमी मरने लगे। परन्तु फिर भी इन हथियारों से लड़े जाने वाले युद्ध बहुत भयानक नहीं थे।

इसके बाद जब अन्य क्षेत्रों में विज्ञान ने महान् उन्नति की तो युद्ध के हथियारों पर भी विज्ञान की कृपा हुई और बम्बार हवाई जहाजों, टैंकों, औटोमैटिक मशीनगनों और भारी २ और मीलों तक मार करने वाली तोपों का आविष्कार हुआ। पन-डुब्बियों ने पिछले महायुद्ध में जो भयंकर महानाश किया उसे सब जानते हैं। सहस्रों भारतीय युवक इस युद्ध में मारे गये। जर्मनी और फ्राँस की जनता के एक चौथाई भाग का सर्वनाश हो गया। फिर जब विज्ञान ने और 'उन्नति' की तो इस महायुद्ध के अन्त में परमाणु बम बना जिसने एक क्षण मात्र में हिरोशिमा और नागासाकी के सहस्रों नहीं लाखों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया।

और अब इस परमाणु बम से भी अधिक विनाशकारी, पैशाचिक, भयंकर हथियार बन चुके हैं जो निमिष-मात्र में एक पूरे देश अथवा पूरे भूमंडल के प्राणियों को मौत के घाट उतार सकते हैं। इन हथियारों में से एक तो यही रॉकेट हो सकता है

जिसकी गति चार सहस्र एक सौ मील प्रति घंटे तक पहुंच चुकी है। इस राकेट के द्वारा बम पृथिवी के एक कोने से दूसरे कोने तक थोड़ी ही देर में पहुंचाए जा सकते हैं और इससे पहले कि आप यह सोच सकें कि बम किधर से और कब आ रहा है और इससे बचाव के लिए क्या किया जाना चाहिए, बम आपके नगर पर गिर चुकेगा और आप के कण-कण वायु में बखेर चुकेगा। सोचने और बचाव का साधन करने में कुछ तो समय लगेगा। रॉकेट की गति आपके सोचने की गति से भी तीव्र हो चुकी है।

सम्भव है आप यह कहें कि इस सारी भयानक परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिये विज्ञान जिम्मेदार है। परन्तु मैं यह बात नहीं मानता। वास्तव में विज्ञान की उन्नति का दोष नहीं है। दोष उन लोगों का है जो विज्ञान का अनुचित प्रयोग करते हैं। विज्ञान ने परमाणु की वास्तविकता का पता लगाया। अब होना तो यह चाहिए था कि परमाणु-शक्ति से कारखाने चलाए जाते, लोगों के लिये घर स्कूल, और कालेज तैयार किये जाते और गाँवों व नगरों का भेद मिटा दिया जाता। यह तो हुआ नहीं, उल्टा इसे मनुष्य जाति के विनाश के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। इसमें विज्ञान का कोई दोष नहीं है, दोष उन लोगों का है जो इस विलक्षण ज्ञान का अनुचित प्रयोग कर रहे हैं। जिस लोहे की निब से कविता लिखी जा सकती है उसी लोहे से पिस्तौल की नाली भी बनाई जा सकती है। इसमें लोहे का क्या दोष ?

दूसरा कारण इस समय विभिन्न राजनैतिक और सामाजिक

विचारों की टक्कर है—साम्यवाद और पूँजीवाद की टक्कर, गण-तंत्रात्मक विचार-धारा और फासिज्म विचार-धारा का संघर्ष। एक सामाजिक व्यवस्था की टक्कर दूसरी सामाजिक व्यवस्था से है और दूसरी की तीसरी से है। विभिन्न विचार-धाराओं का टकराव वैसे कोई बुरी बात नहीं है। मानव ने इस टकराव से सदा लाभ उठाया है। एक सामाजिक व्यवस्था का दूसरी सामाजिक व्यवस्था से टकराव भी कोई बुरी चीज नहीं है। ऐसे टकराव में से नई व्यवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और मानव-समाज आगे बढ़ता है। परन्तु आज प्रश्न यह नहीं, वरन् यह है कि यदि आज हमने अपने विचारों और व्यवस्थाओं के संघर्ष में परमाणु बम और दूसरे पैशाचिक हथियारों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया तो परिणाम क्या होगा? परिणाम स्पष्ट प्रकट है और वह यह कि मनुष्य का विनाश हो जाएगा। इस भू-मंडल की समस्त जन-संख्या नहीं तो कम से कम इसका अधिकाँश भाग मौत के घाट उतर जायेगा। इसके नगर जिन्हें इसने सैंकड़ों वर्षों के घोर अथक परिश्रम से तैयार किया था,—न्यूयार्क, देहली, बम्बई, लन्दन, मास्को, पीकिन, पैरिस—ये सब मलबे के ढेरों में बदल जायेंगे। मानव सभ्यता जिसमें अमरीकी सभ्यता भी सम्मिलित है, इसकी सारी बपौती, इसकी सारी परम्पराएँ मर जायेंगी। फिर कौनसी विचार-धारा जीवित रह जायेगी—साम्यवादी या प्रजातंत्रात्मक, या फाशिस्ती? विचार-धाराओं का महत्त्व भी तो मनुष्य के साथ ही है। मनुष्य की कल्पना से बाहर कोई विचार-धारा नहीं। जब मनुष्य ही नहीं रहेगा तो विचार-धाराएँ कहाँ होंगी.

और यदि होंगी भी तो उनसे लाभ क्या होगा?

इसलिये अब सारे संसार के शान्तिवादी लोगों को एक हो जाना चाहिए—किसी विशेष राजनैतिक विचार-धारा, किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था अथवा किसी विशेष धार्मिक विश्वास के लिये नहीं वरन् केवल-मात्र मानव-जीवन को बचाने के लिये, केवल अपने मूल अस्तित्व को सुरक्षित करने के लिये। मैं फिर यह बात दोहराता हूँ कि इस मामले में किसी राजनैतिक विचार-धारा एवं व्यवस्था की शर्त नहीं हो सकती—क्योंकि परमाणु बम की कोई विचार-धारा नहीं हो सकती, उसका कोई विश्वास नहीं हो सकता, इसका कोई धर्म नहीं, कोई जाति नहीं, कोई राष्ट्र नहीं होता। यदि हैदराबाद में बम गिरेगा तो यह नहीं हो सकता कि वह केवल कम्युनिस्टों को मार डाले और शेष लोगों को छोड़ दे। वह तो वहाँ के सब लोगों को मार डालेगा—चाहे वे समाजवादी हों, कांग्रेसी हों अथवा उनकी कोई भी विचार-धारा न हो। इसलिये शान्ति स्थापित करने के लिये और युद्ध को रोकने के लिये सब विचारों के लोगों को एक हो जाना चाहिए। इस आन्दोलन में उन लोगों को भी सम्मिलित हो जाना चाहिए जो किसी भी धार्मिक एवं राजनैतिक संस्था से सम्बंध नहीं रखते। यह प्लेट-फार्म संसार के समस्त लोगों के जीवित रहने का अधिकार-मात्र मांगता है, और कुछ नहीं। इसकी पहली और अन्तिम मांग यही है।

इस शान्ति-आन्दोलन में विद्यार्थी बहुत कुछ कर सकते हैं और कर रहे हैं। संसार के प्रत्येक भाग में विद्यार्थियों ने शान्ति

की 'अपील' पर लाखों की संख्या में हस्ताक्षर किये और कराये हैं। हमें इस बात पर गर्व है कि शान्ति की अपील पर हस्ताक्षर कराने वाले विद्यार्थियों में सब से पहला नम्बर एक भारतीय विद्यार्थी का है। वह है पंजाब का दुसवन्तसिंह जिसने सत्तर सहस्र हस्ताक्षरों का जिम्मा लिया है और अब तक पचास सहस्र से अधिक हस्ताक्षर करा भी चुका है।

ये स्कूल, ये कालिज, ये युनिवर्सिटियां और इनकी सारी चहल-पहल शान्ति के ऊपर आश्रित है। युद्ध से ये सब संस्थायें विनष्ट हो जाएंगी, यूनिवर्सिटियों के भव्य-भवन बमों की मार से खण्डहर बन जाएंगे। पुस्तकालय और पुस्तकें राख के ढेर-भर बन जाएंगे और इन खण्डहरों का कण-कण पुकार २ कर पूछेगा कि यह सब महानाश किसने किया है, किसने मनुष्य के सहस्रों वर्षों के परिश्रम को क्षण भर में मलियामेट करके रख दिया है और किसने मानव-सभ्यता के सहस्रों वर्षों से बनते आए भवन को पल-भर में चकनाचूर कर डाला है।

आइये, मनुष्य को इस भयानक महानाश, इस प्रलय, इस समाप्ति, इस घोर संकट से बचालें। आइये, हम एक दूसरे का हाथ पकड़ें और शान्ति की खोज करें।

प्रेमचन्द और उनके पश्चात्

७.

प्रेमचन्द की महान् मानव-मैत्री की एक विशाल और फैली हुई शृङ्खला से, जो उनकी सैंकड़ों कहानियों और बहुत से उपन्यासों से सम्बद्ध है, हमारे वर्तमान प्रगतिशील साहित्य का सूत्र-पात होता है। मैं यहाँ प्रेमचन्द की मानव-मैत्री का उल्लेख इस रूप में नहीं कर रहा हूँ कि मैन भी मानव है और पॉल रॉबसन भी मानव है, चर्चिल भी मानव है और भगतसिंह भी मानव है। इसलिए जो मानवता का पुजारी होता है, जो मानव का मित्र होता है वह दोनों का मित्र होता है। साहित्य में केवल ऊपरी सत्य के पुजारी, केवल आदर्शवादी ही, मानव-मैत्री का इस प्रकार का अर्थ ले सकते हैं अन्यथा जानने वाले जानते हैं कि बहुत से लोग मानव होते हुए भी मानव के शत्रु होते हैं। हिरो-शिमा पर बम गिराकर लाखों मनुष्यों को निमिष-मात्र में मौत के

घाट उतार देने वाले मानव में और जनसाधारण के भावों तथा अनुभूतियों अथवा वेदनाओं को अपने संगीत में समोने वाले पॉल रॉबसन में बहुत अन्तर है। इसलिये जब मैं प्रेमचन्द की मानव-मैत्री और मानवता का उल्लेख करता हूँ तो मैं उनकी गणना पॉल रॉबसन और भगतसिंह जैसे मानवों में करता हूँ।

आज 'मानवता' के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति, ऐसे दल, ऐसी जीवन-व्यवस्थायें सम्मिलित नहीं की जा सकतीं, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का दास बनाती हैं, जो उसके विनाश का कारण बनती हैं और जो करोड़ों मनुष्यों के कन्धों पर अपने स्वार्थ के लिये जूआ डाल देती हैं। मानवता की कल्पना प्रत्येक युग में एक प्रगतिशील कल्पना रही है और हमारे युग में प्रेमचन्द इस के सब से देदीप्यमान स्तम्भ हैं। प्रेमचन्द ने इस नई मानव-मैत्री की भावना का, इसके ऐतिहासिक तत्त्व का, अपनी कहानियों और उपन्यासों में बड़े उत्कृष्ट ढंग से समावेश किया है। यह उन की उच्च विवेक-दृष्टि का परिणाम है कि वह शीघ्र पहचान गए कि आज के संसार में मनुष्य का कौन मित्र है और कौन शत्रु; वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को अवनति की ओर धकेल रही हैं और वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को उन्नति की ओर ले जाने की चेष्टा कर रही हैं। यहाँ मैं इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ कि उन्हें इन शक्तियों का बहुत शीघ्र अनुमान हो गया, जो मनुष्य को अवनति की ओर ले जाती हैं परन्तु उन्हें उन शक्तियों के पहचानने में बहुत समय

लगा, जो मनुष्य को उन्नति की ओर ले जाती हैं और टैगोर को तो उन से भी अधिक समय लगा। परन्तु यह एक सत्य है कि हमारे युग के ये दोनों महान् साहित्यिक अन्त में जीवन की वास्तविक शक्ति को पहचान गये। प्रेमचन्द को इस की अनुभूति टैगोर से बहुत पहले प्राप्त हुई परन्तु टैगोर ने मरने से केवल कुछ ही दिनों पहले इसके सम्बन्ध में अपनी कविताओं में खुले संकेत किये।

प्रेमचन्द की जागीरदारी से शत्रुता, किसान से प्रेम, साम्राज्य-वाद से शत्रुता, देश के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति श्रद्धा, राजसी रीतियों, रस्मों और संस्कृति के प्रति उदासीनता, प्रेमचन्द का उन रीतियों और संस्कृति के विरुद्ध आन्दोलन जिसे कुछ लोग उनका सुधारवाद समझते हैं किन्तु जिसे मैं ऐसा नहीं समझता, (उनका सुधारवाद और दूसरी बातों में है, जिनका उल्लेख मैं बाद में करूँगा), ये उनकी कला के दोनों धनात्मक और ऋणात्मक पहलू उनकी मानव-मैत्री के चित्र को सम्पूर्ण करते हैं। प्रगतिवादी साहित्यिक इसी पूँजी को लेकर आगे चले हैं और इन्हें गौरव है कि इस सम्बन्ध में इन्हें जो दाय प्राप्त हुआ है वह बहुत ही मूल्य-वान है—वे एक महान् पिता के पुत्र हैं।

कई बातें जो हमें साधारण जान पड़ती हैं किन्तु जो बड़ी और दूर तक पहुँच अथवा प्रभाव रखती हैं और जिनका महत्त्व ऐतिहासिक और क्रान्तिकारक है, उनमें से एक बात यह भी है कि प्रेमचन्द ने अपनी कथा-कहानियों और उपन्यासों के पात्र

साधारण व्यक्तियों में से लिये हैं। साधारण किसान, अछूत, घास काटने वाली स्त्रियाँ, दफ्तरों के क्लर्क, मुन्शी, वकील, मध्यम श्रेणी के अन्य व्यक्ति—ये और अन्य ऐसे ही व्यक्ति तथा पात्र प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के नायक हैं। नायक साहित्य में एक केन्द्र का प्रतिरूप होता है। वह प्रतीक या चिन्ह होता है एक जीवन दर्शन का; वह पताका होता है एक जीवन की। नायक का चरित्र, उसका तत्त्व अथवा महत्त्व, उसका सृजन, उसका विकास न केवल यह प्रकट करता है कि जिस युग में वह साहित्य उत्पन्न हुआ उस युग में जीवन का क्या रूप था, अपितु वह उस साहित्यकार की मनोवृत्ति और उसके स्वभाव के झुकाव अथवा स्थिति को भी प्रकट करता है। प्रेमचन्द के साहित्य में आप देखेंगे कि केन्द्रीय पात्र राजकुमार नहीं है, न परियों का शाहजादा, न राजमहलों का युवराज। वह मुगल अवनति के युग का विलासी नव्वाब नहीं है, वह अंग्रेजी गर्व-गरिमा पर पलने वाला रायबहादुर या खान बहादुर भी नहीं है। वह एक मजदूर है, एक किसान है, एक अछूत है, एक क्लर्क है, एक विद्यार्थी है, एक दुकानदार है, एक श्रमजीवी है। प्रेमचन्द के साहित्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक युग गया और दूसरा युग आया, एक वर्ग मर गया और दूसरा वर्ग उभर आया। जीवन परियों के देश से, रात के विलास-गृहों से निकल कर खेतों और बाजारों में आ गया। साहित्य में इस परिवर्तन, इस उत्कर्ष का श्रेय प्रेमचन्द को प्राप्त है।

प्रेमचन्द को जीवन से अथाह प्रेम था। यहां प्रेम से मेरा अभिप्राय किसी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी किसी आदर्शवादी भावना से नहीं है। प्रेम से मेरा तात्पर्य उस सुन्दर भावना से है जिसे मनुष्य ने हजारों वर्षों की तपस्या और प्रयत्न से प्राप्त किया है। कुछ लोगों का विचार है कि प्रेम आदि-युग से ही चला आ रहा है। परन्तु ऐसा नहीं है। प्रारम्भ में भय था, बन की भयङ्कर निस्तब्धता और गुफाओं-कन्दराओं का अन्धकार था और शिकार हो जाने या शिकार करने की निर्णयात्मक लड़ाई थी। और यह भी मालूम न था कि शिकार आज मिलेगा या दस दिन के पश्चात् मिलेगा। और जब शिकार मिलता था तो जो सब से अधिक बलवान व्यक्ति होता था, वह सब से अधिक भाग ले उड़ता था। उसके पश्चात् स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों के भाग में कुछ आता था। जीवन इतना अनिश्चित, इतना अन्धकारमय, काल्पनिक, इतना संकटपूर्ण था कि जंगल में अपनी छाया से डर लगता था। ऐसे जीवन में प्रेम नहीं हो सकता था। प्रेम तो बहुत धीरे २ उत्पन्न हुआ। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया, प्रेम अपने लिये उसके हृदय में द्वार खोलता गया। द्वार, खिड़कियां और दीवारें ऊपर उठने लगीं। मनुष्य गणात्मक जीवन से जागीरदारी और जागीरदारी से पूंजीवाद, पूंजीवाद से समाजवाद के युग में प्रविष्ट हुआ और मनुष्य ने प्रेम का एक भव्य और विशाल मन्दिर खड़ा कर लिया, जिसके इतने ही द्वार और खिड़कियां हैं जितने संसार में मनुष्य हैं। आज मनुष्य सृष्टि के केन्द्र पर खड़ा

है इसलिये प्रेम की भावना भी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच रही है। देखिये उस प्रेम में, जो प्रारम्भ में केवल अपने आप से और केवल अपने जीवन से था, आज कितनी ही फूल-पत्तियाँ खिली हैं। आज न केवल अपने जीवन से प्रेम है अपितु अपने बच्चे से प्रेम है, अपनी स्त्री से प्रेम है, अपने भाई से प्रेम है, अपनी बहन से प्रेम है, अपने पिता और माता से प्रेम है, और अपने मित्र से प्रेम है, अपने पड़ोसी से प्रेम है, अपनी गली से प्रेम है, अपने गाँव से प्रेम है, अपने शहर से प्रेम है, अपने देश से प्रेम है और दूसरे देशों से प्रेम है, सारे संसार के मनुष्यों से प्रेम है। आज यह प्रेम पंख लगा कर चाँद सितारों में उड़ना चाहता है क्योंकि चाँद और सितारे भी हमारी भांति ग्रह हैं और उनके लिये हम भी आकाश वाले हैं। जो लोग हमारे साहित्य को भूमि से उठा कर आकाश पर ले जाना चाहते हैं, उन्हें यह न भूलना चाहिये कि हमारे चारों ओर आकाश है और उसके बीच में भी यह मनुष्य है और यह कि यदि कभी मनुष्य इस संसार से उठकर उस लोक में गया तो इस घटना का गीत भी एक प्रगतिवादी साहित्यिक ही गायेगा।

इसलिये जब मैं प्रेमचन्द के साहित्य में जीवन के अथाह प्रेम का उल्लेख करता हूँ तो मैं इसी प्रेम का उल्लेख करता हूँ। प्रगतिवादी साहित्यिकों को वर्गीय संघर्ष की तीव्र और उग्र उथल-पुथल के वातावरण में मानवी समवेदना की उस निर्माणात्मक भावना को नहीं भूलना चाहिये जिसका शानदार चित्रण उनके अपने

बड़े २ साहित्यिकों ने किया है, और जो इसके अभिप्राय को स्पष्टतर तथा उसके प्रभाव-क्षेत्र को और भी विशाल बनाने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। मां और पुत्र का प्रेम और भाई तथा बहन का प्रेम, पुरुष और स्त्री का प्रेम, देश और जाति का प्रेम—ये प्रेम मनुष्य ने कोई इतनी सुगमता से प्राप्त नहीं किये हैं। न ये प्रेम आरम्भ ही से उसकी प्रकृति की विशेषता या गुण थे। जैसे कि कई लोग समझते हैं। ये प्रेम मनुष्य ने कठोर तपस्या के पश्चात् प्रकृति की छाती चीर कर प्राप्त किये हैं, इसमें स्वयं मनुष्य के वर्गीय संघर्ष का बड़ा हाथ रहा है, और आज समाजवादी व्यवस्था मानवीय प्रेम को एक नया रूप दे रही है। इसलिये प्रगतिवादी साहित्यिक प्रेम के इस वास्तविक अथवा प्रगतिशील भावना से, तथा उसकी महानता से कभी विमुख नहीं हो सकते। वे इसे और भी फैला देंगे, और इसे एक दिन सारे विश्व पर बिछा देंगे।

प्रेमचन्द प्रेम के इस आदर्श को बड़ी अच्छी तरह से पहचानते हैं और इसकी पवित्रता और उत्कर्ष का बड़ी सुन्दरता से विवेचन करते हैं। उन्होंने जो कहानियां बहन और भाई के सम्बन्ध में लिखी हैं, जो स्त्री और पुरुष के, हिंदू और मुसलमान, पड़ोसी और पड़ोसी, भाई और भाई, देवर और भौजाई, मां और बेटे, किसान और खेत के प्रेम के सम्बन्ध में लिखी हैं अर्थात् जिस प्रेम भरी दृष्टि से मनुष्य ने अपने परिश्रम को देखा है, वे अपनी पवित्रता और सुन्दरता में अद्वितीय हैं और उनकी

चमक-दमक हज़ारों वर्ष तक हमारी आंखों को चकाचौंध करती रहेगी। कभी-कभी प्रेम की यह मूर्ति पशुओं का भेस बदल कर हमारे सामने आ जाती है। 'दो बैलों की कहानी' में प्रेमचन्द ने पशुओं को मानवी अनुभूति और भावना उधार देकर जिस प्रकार जीवन से अपना अथाह प्रेम और अनुराग प्रकट किया उसका उदाहरण भी हमारे साहित्य में बहुत कम मिलता है।

प्रेमचन्द की मानव-मैत्री और प्रीति की अभिव्यक्ति उनके उन पात्रों में भी मिलती है जिनका उन्होंने स्त्रियों के लिये सृजन किया है। प्रेमचन्द के यहाँ स्त्री का पात्र कहीं-कहीं आदर्शवाद की झलक के बावजूद बहुत ही नया और बहुत ही दृढ़ है। यह एक ऐसा पात्र है जिससे हम अभी कई वर्ष तक शिक्षा ले सकते हैं। जो नग्नता उर्दू साहित्य में थोड़े काल के लिये आई, उसकी एक झलक भी आपको प्रेमचन्द के यहाँ नहीं मिलेगी। अपने यहां आजकल प्रगतिशील साहित्य में भी नारी का पात्र प्रायः दुर्बल ही प्रस्तुत किया जाता है—अर्थात् ऐसी स्त्री जो प्रायः रौंदी और पिसी हुई होती है और अपने भावों की घुटन की तहों में छिपी हुई है, जो बहुत सुगमता से लुट जाती है या बिक जाती है या बेची जाती है या स्वयं निर्वाह-सम्बन्धी विवशताओं या झूठी नैतिकता से पराभूत होकर अपने प्रेम को धोखा देती है। मैं मानता हूँ कि यूँ भी होता है और इसका वर्णन भी आता है और साहित्य में गिना जा सकता है। परन्तु मैं समझता हूं कि यह पूरी सचाई नहीं है। स्त्री के इस बदलते हुए पात्र को, जो अपनी विवशता अथवा

पराधीनता से युद्ध कर रही है, जो घर की चार दीवारी के दुर्ग को तोड़कर बाहर आ रही है, जो खेतों और कारखानों में काम कर रही है, जो न लुटती है, न बिकती है, अपितु सुदृढ़ता से अपनी आन, अपनी मर्यादा पर स्थिर रहती है, जो एक स्नेहमयी माता है, एक प्यारी बहन है, एक चित्ताकर्षक साथिन है, जो लड़ती है, झगड़ती है, आपसे पाँव मिलाकर चलती है, कभी दो पग आगे भी चलती है अर्थात् केवल जीवन का सृजन करने वाली ही नहीं प्रत्युत उसका नेतृत्व भी करती है। ऐसी स्त्री का उल्लेख और ऐसे पात्रों की रूपरेखाएँ अपने समस्त सौंदर्य और शक्ति के साथ प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेंगी और उनके बाद के प्रगतिशील साहित्य में कम मिलेंगी। इस विषय में हमें अभी कई बार प्रेमचन्द के साहित्य का अवलोकन करना होगा, और अपनी उस जागीरदारी की मनोवृत्ति को दूर करना होगा, जिसके कारण हम आज तक स्त्री के नये पात्र को समझने में असमर्थ रहे हैं।

प्रेमचन्द नगर-निवासियों से अधिक किसानों के साहित्यिक हैं, भारत की अस्सी प्रतिशत जन-संख्या के जीवन के, इसके छोटे-छोटे हर्षों के, इसके बड़े-बड़े दुखों के, इसके ठाकुरों और जमींदारों के, इसके कृषकों और खेत-मजदूरों के, इसके अछूतों के, इसके बच्चों के, इसके घरों के, इसके गुण्डों के, गुण्डों का मुकाबला करने वालों के वे साहित्यिक हैं। प्रेमचन्द ने हमारे किसानों के जीवन की प्रत्येक नस-नाड़ी का बड़े ध्यान से अध्ययन किया है और सुन्दरता और दक्षता तथा कलात्मक गौरव से इस काम

को पूरा किया है। रूसी किसान के लिये जो काम टालस्टाय ने किया है भारती किसान के लिये वही काम प्रेमचन्द ने किया है। हमारे युग में यह काम टैगोर ने नहीं किया, इक़बाल ने नहीं किया। यह काम केवल प्रेमचन्द ने किया है और एक यही काम इतना महान है कि उनकी गणना संसार के बड़े से बड़े साहित्यिकों में की जा सकती है।

जब तक किसान और उसका ऐतिहासिक वातावरण हमारे भूमण्डल पर शेष है, लोग प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्रों को बड़ी रुचि से पढ़ते रहेंगे और उनमें एक नये जीवन और नई सृष्टि की रूपरेखा पायेंगे। शीघ्र या विलम्ब से हमें भी कृषि-संबंधी व्यवस्था में क्रान्ति का सामना करना है जिसके बिना भारत का आर्थिक जीवन सुव्यवस्थित नहीं हो सकता, इसलिये हमें प्रेमचन्द की इस शानदार परम्परा को आगे बढ़ा कर ले जाना होगा जहां पर वह समय की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

कुछ एक व्यक्तिगत प्रयत्नों को छोड़कर, जिनका दर्जा भी प्रेमचन्द से आगे नहीं है, हमारे प्रगतिवादी साहित्यकारों ने इस काम के महत्त्व को सर्वथा भुला दिया है। हमें यह भली प्रकार से समझना चाहिये कि भारत उसी समय बदलेगा जब भारत का किसान बदलेगा। और हमें इस बदलते हुए किसान के जीते-जागते चित्र उसी कला-दक्षता से प्रस्तुत करने होंगे जिस प्रकार अपने समय के किसानों के चित्र प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किये हैं और यह काम कोई अधिक कठिन नहीं है। प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध

में बहुत काम किया है। उन्होंने इस भूमि में बीज बोया है। इसमें अंकुर भी फूटे हैं। आप चाहें तो अपने परिश्रम से इसी खेत को नन्दनकानन के समान बना सकते हैं। प्रेमचन्द ने किसानों के परिश्रम और प्रयत्नों के बीज बोये थे, आप चाहें तो क्रान्ति की फ़सल काट सकते हैं।

प्रेमचन्द नये जीवन, नई साधना, नये प्रेम, नये समाज, नई नारी, नई मानवता के साहित्यिक हैं, उनके पात्र और उनके स्वभाव और उनके काम हमारे युग में से चुने गये हैं। प्रेमचन्द को परिवर्तन और विकास की अनुभूति थी और यह अनुभूति उच्चतर होती जा रही थी। हमें यह न भूलना चाहिये कि वे थोड़ी ही आयु में सिधार गये, इसलिये प्रेमचन्द की साहित्यिक साधना ने आत्माभिव्यक्ति में एक नई शैली ग्रहण की। इस शैली की सरलता और सौष्ठव, इसकी भाषा की चित्ताकर्षकता और सत्यता, इसका संगीतमय लोच और इसकी दयानतदारी, इसका स्नेह, माधुर्य और इसकी शक्ति, जो केवल सत्यवादिता से आती है, जो न कृत्रिम कलाकारिता से आती है न भ्रमयुक्त दर्शनशास्त्र के प्रकाशन से आती है, जो केवल जीवन के उभरते हुए मानदण्ड अथवा मूल्यों को समझने और उनकी सच्चाई से आती है, यही मोह लेने वाली, हृदय में उतर जाने वाली संगीत-श्री हमें प्रेमचन्द के यहां मिलती हैं। प्रेमचन्द के साहित्य की भाषा बहुत सरल है। इसे बहुत से लोग बड़ी सुगमता से समझ सकते हैं। यह भाषा न कठिन हिन्दी है न कठिन उर्दू है। इस भाषा की वर्णन-शैली

लोक-भाषा के बहुत निकट है और बहुत ही घुली हुई और रची हुई, लोकतन्त्री आवश्यकताओं को पूरी करती हुई, एक ऐतिहासिक पुल का काम देती हुई—यह ऐतिहासिक पुल, जो उर्दू और हिन्दी के बीच में प्रेमचन्द ने बांधा है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व इस समय किसी ने नहीं समझा, जिसके लिये प्रेमचन्द ने उर्दू और हिन्दी दोनों ओर के साहित्यिकों की गालियों को मौन रहकर सुना। इस पुल के ऐतिहासिक महत्त्व को भावी पीढ़ियाँ सदा हर्ष और उल्लास से याद करेंगी। भाषाओं, जातियों और देशों के विभाजन करने वाले तो बहुत पैदा होते रहते हैं परन्तु भाषाओं, जातियों और देशों के संगम बनाने वाले हजारों वर्षों के अन्धकार के पश्चात् उत्पन्न होते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् प्रगतिशील साहित्य में जो त्रुटियां आईं और जिनके सम्बन्ध में कुछ संकेत मैंने किये हैं, उनके अतिरिक्त अब मैं तनिक विस्तारपूर्वक वर्तमान प्रगतिशील साहित्य पर विचार करूँगा। परन्तु इतने विस्तार से भी नहीं कि प्रत्येक कलाकार और उसकी कृति का या विगत पन्द्रह वर्ष में प्रेमचन्द की मृत्यु के उपरान्त जो कुछ लिखा गया है उसका पृथक्-पृथक् उल्लेख कर सकूं। यहां पर मैं प्रेमचन्द के बाद के साहित्य की कुछ बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियों, उसकी त्रुटियों और गुणों का उल्लेख करूँगा।

सब से बड़ा गुण जो मुझे वर्तमान प्रगतिशील साहित्य में, उसकी समस्त त्रुटियों के बावजूद दिखाई देता है वह यह है कि

वर्तमान प्रगतिशील साहित्य ने नागरिक जीवन के सम्बन्ध में उस अभाव को पूरा किया है जो प्रेमचन्द के साहित्य के पश्चात् उत्पन्न हुआ था। इस असन्तुलित स्थिति को दूर करने में वर्तमान साहित्य का बहुत बड़ा भाग है और संभवतः इसे ही इस युग की सब से बड़ी देन समझना चाहिये। यदि प्रेमचन्द ने ग्राम के जीवन को अपनाया तो वर्तमान प्रगतिवादी साहित्यिकों ने नागरिक जीवन को अपनाया और विगत पन्द्रह वर्ष में इस दिशा में भरपूर परीक्षण किये हैं, जिनमें कई आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए हैं। आप को गत पन्द्रह वर्ष के प्रगतिशील साहित्य में नागरिक जीवन और उसके लोकतन्त्रात्मक प्रयत्न व अनुसन्धान, उसके मध्यम वर्ग के दुहरे व्यक्तित्व, उसके लोगों की विश्वास-शून्यता, उसके बाज़ार, उसकी गलियां, उसके दुकानदार, क्लर्क सैनिक, कर्मचारी, नौकरी करने वाले, स्कूल की लड़कियां, कालेज के लड़के, शहरों के गुप्त जीवन—ये सारी बातें इस साहित्य में भरपूर मात्रा में आप को मिलेंगी, जो इससे पहले नहीं मिलती थीं, या मिलती थीं तो इतनी सफ़ाई, इतनी गहराई से नहीं मिलती थीं जितनी अब मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त भाषा के बारे में भी हम ने प्रेमचन्द की परम्परा को सुदृढ़ बनाया है। हिन्दी और उर्दू के बहुत से प्रगतिवादी साहित्यिकों ने क्रमशः अपने प्रयत्नों और परीक्षणों से अपनी कहानियों और कविताओं की भाषा को सरल और प्रभावशाली बनाया है, और इसे लोक भाषा के समीप लिये जा रहे हैं।

इन साहित्यिकों की भाषा निश्चय ही मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, ज़फ़र अली खाँ और सज्जाद हैदर की उर्दू से बहुत भिन्न है। इस उर्दू में लोक-व्यवहार के मापदण्ड भिन्न हैं। यह जागीरदारों की संभ्रांत भाषा में बात-चीत नहीं करती। इसका लहजा साफ़ अथवा कोमल और कभी-कभी कठोर भी है। इसका मख़मल स्थान २ से फट चुका है और इस में टाट के जोड़ अधिक लगे हैं। किन्तु ग़रीबों को तो टाट से अधिक सम्पर्क रहता है, मख़मल तो कभी-कभी वे बस देख ही लेते हैं। इसलिये इस से घबराना नहीं चाहिये। यह भाषा ज्यों ज्यों लोक-भाषा के निकट आती जाती है इसकी रीढ़ की हड्डी सुदृढ़ होती जाती है। और यह रीढ़ की हड्डी सुदृढ़ होती है तो मनुष्य बहुत समय तक आपत्तियों का बोझ उठाये जीवित रह सकता है।

भाषा के अतिरिक्त प्रगतिशील साहित्य का तीसरा महान कार्य उसकी लोकतन्त्रात्मक चेतना है। यह चेतना प्रेमचन्द से बहुत आगे निकल गई है और टैगोर से भी बहुत आगे निकल गई है, दूर, जहाँ पर इन दोनों साहित्यकारों की महानता सोती है, वहीं से वर्तमान प्रगतिशील साहित्य की महानता जागती है। इस में समय ने और युग ने तथा जनता की राजनैतिक लड़ाई ने वर्तमाम प्रगतिशील साहित्य का बड़ा नेतृत्व किया है। किन्तु इसके बावजूद मैं इसे वर्तमान साहित्य की कृतियों में गिनता हूँ क्योंकि यह भी संभव हो सकता था कि हम लोग प्रेमचन्द से आगे जाने के स्थान पर पीछे जाते—जैसा कि भारत की कई

दूसरी भाषाओं में हुआ है, जिनका साहित्य आज भी निश्चयात्मक रूप से उर्दू और हिन्दी के साहित्य से पिछड़ गया है। परन्तु इस राजनैतिक चेतना, इस प्रयत्न, इस परिश्रम, इस परीक्षण की प्रशंसा न करना निश्चय ही अन्याय होगा जिस के बल-बूते पर आज प्रगतिवादी साहित्यिक अपनी नाव को अपने भुजा-बल से खेते हुए आगे लिये जा रहे हैं।

परन्तु जहाँ तक किसानों के जीवन के चित्रण और नेतृत्व का सम्बन्ध है, जहाँ तक नई स्त्री के चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, उस सीमा तक मैं समझता हूँ कि हम आज भी प्रेमचन्द से बहुत पीछे हैं और हम ने उनकी परम्परा को और उनके काम को पूरा नहीं किया है। इस विषय में मैं पहले ही विस्तारपूर्वक कह चुका हूँ और यहाँ पर अन्त में केवल एक बात का उल्लेख करना चाहता हूं।

नागरिक जीवन के अध्ययन और अनुभव तथा चित्रण ने हमें पहली बार मजदूर वर्ग से परिचित कराया है। हमारे अधिक-तर लिखने वाले मध्यम श्रेणी से आये हैं, इसलिये उन्होंने आने वाले युग के इस केन्द्रीय पात्र के ऐतिहासिक महत्त्व को अभी तक अपने मस्तिष्क में भली प्रकार से नहीं समोया है। हमारे साहित्य में अभी वर्तमान में ही में मजदूर वर्ग की चेतना उभरी है, इसलिये वह अभी स्पष्ट नहीं है, कच्ची है, कला-सौंदर्य से शून्य है और प्रायः नारे लगाने पर समाप्त हो जाती है। परन्तु इस बात पर अधिक विस्मित न होना चाहिये क्योंकि साहित्य

एक कर्म, एक पाठ, एक परीक्षण है, एक बीज है और एक फसल है; और बीज तथा फसल के बीच में सदा समय का अन्तर होता है। मैं समझता हूं ज्यों-ज्यों जीवन में प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक शिक्षण-पोषण होता जायगा तो जिस अभाव का अनुभव हो रहा है वह भी दूर हो जायगा।

मैं बहुत से मित्रों के अभिमत के विरुद्ध इस विषय में वर्तमान प्रगतिशील साहित्य से असंतुष्ट नहीं हूँ। मैं जानता हूं कि यह काम अवश्य पूरा होगा और इस काम को हमारे साहित्यिक ही सम्पन्न करेंगे। यह काम एक दिन अवश्य हमारे साहित्यिकों के हाथों पूरा होगा और फिर वह दिन आयेगा जब हम मजदूर के सिर पर काँटों का मुकुट रख देंगे, उसके हृदय में सलीब छिपा देंगे और उससे जनसाधारण के स्पष्ट स्वर में पुकार कर कहेंगे—

"गुजर भी जा कि तेरा इन्तजार कब से है!"

रचनात्मक साहित्य

८.

प्रगतिशील साहित्य का अर्थ 'साहित्य जीवन के लिये' नहीं है। प्रत्येक साहित्य चाहे वह प्रतिक्रियावादी हो अथवा क्रांतिकारी, जीवन के किसी न किसी पहलू का चित्रण अवश्य करता है। वे साहित्यिक भी जो सैद्धान्तिक रूप से "साहित्य साहित्य के लिये" के समर्थक हैं, व्यावहारिक रूप से अपने इस कथन का परिहास करते हैं। क्योंकि ऐसा साहित्य, जो 'साहित्य साहित्य के लिये' का विशुद्ध नमूना हो, आज तक कोई साहित्यिक न लिख सका। यह इसलिये है कि साहित्यिक स्वयं जीवन का एक अंग है—उस जीवन का जो अविराम परिवर्तनशील क्रिया है। पदार्थ (Matter) से जीवन और जीवन से विचार उत्पन्न होता है। यह विचार कितना ही अस्पष्ट, प्रतिक्रियाशील और अगम्य हो, जीवन की सृजनात्मक शक्ति का द्योतक होता है और इसलिये

साहित्य 'साहित्य के लिये' नहीं वरन् 'जीवन के लिये' होता है। हद तो यह है कि दादावादी (Dadist) साहित्यकारों की बेहूदा कृतियों और सररीयलिस्ट (Surrealists) साहित्यिकों की कल्पना में भी, जो भयानक हद तक व्यक्तिगत और निजी होने के कारण बहुधा दूसरे व्यक्तियों के लिये गूढ़ और अगम्य होता है, जीवन के समीपत्व और क्रम का परिचय मिलता है।

इन कारणों से प्रगतिशील साहित्य को 'साहित्य जीवन के लिये' कहकर हम उसकी सैद्धान्तिक पृष्ठ-भूमि की कोई स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत नहीं कर सकते। जब साहित्य जीवन की उपज ठहरा तो जीवन का चित्रण अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के साहित्य का अनिवार्य अंग बन जाता है। इस स्थिति में प्रगतिशील साहित्य को अन्य प्रकार के साहित्य से अलग करने के लिये कुछ अन्य मान्यताओं की आवश्यकता का अनुभव होता है जिनके आधार पर हम प्रगतिशील साहित्य को दूसरे साहित्य से उत्तम मानते हैं।

'अच्छा' और 'बुरा' पुरानी नैतिक परिभाषाएँ हैं— केवल तुलनात्मक वातावरण और परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ उनमें भी उचित परिवर्तन होता रहता है। क़बायली साहित्य से जागीरदारी साहित्य तक, पूंजीवादी साहित्य से प्रगतिशील साहित्य तक मानवीय साहित्य ने कई रंग बदले हैं। आज से थोड़ा समय पहले तक पूँजीवादी साहित्य अच्छा था अर्थात् प्रगतिशील था। अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं। मानवीय प्रगति और उसकी कल्पना की व्यापकता यह अनुरोध करती है

कि एक नवीन साहित्य का सृजन किया जाये जो नवीन सामाजिक शक्तियों का द्योतक हो।

प्रगतिशील साहित्य कैसे उत्पन्न हुआ है, या उसकी क्या आवश्यकता है, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें प्रकृति के विकासशील स्वभाव और द्वंद्वात्मक शक्तियों ही में मिल सकता है। यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि अच्छा बुरा केवल तुलनात्मक परिभाषाएँ हैं। नैतिकता के मापदण्ड वातावरण में परिवर्तन के साथ-साथ बदलते रहते हैं। जो लोग पुराने मापदण्डों, पुराने विचारों और पुरानी मान्यताओं ही को साहित्य की निधि समझते हैं, वे इस हद तक प्रतिक्रियावादी हैं कि वे ऐतिहासिक शक्तियों का साथ नहीं दे रहे। जो साहित्यकार या जो साहित्य इन ऐतिहासिक शक्तियों के प्रवाह के साथ-साथ चलने का प्रयास करता है वह प्रगतिशील है और इस लिये दूसरे साहित्यिक या साहित्य से उत्कृष्ट है।

आजकल की परिस्थितियों में प्रगतिशील साहित्यिक अथवा साहित्य, दूसरे साहित्यिक अथवा साहित्य से इस कारण उत्कृष्ट है कि उसमें जीवन का चित्रण और ऐतिहासिक शक्तियों के बदलते हुए बहाव का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है, न कि मिटे हुए जीवन की जड़ता का, परन्तु कभी यह मिटा हुआ जीवन भी चेतन था। तब उसका साहित्य भी जीवित था। कालिदास और शैक्सपीयर के नाटकों को केवल इस कारण 'प्रतिक्रियावादी' घोषित करना कि उनमें राजाओं की प्रशंसा

की गई है, अथवा उनमें गरीबों और मजदूरों को विद्रोह करने की शिक्षा नहीं दी गई है, आलोचना की कोई सच्ची कसौटी प्रस्तुत नहीं करता। पूंजीवादी साहित्य के पहले और बीच के युग में मानव साहित्य ने बड़ी प्रगति की। यदि इसकी तुलना मध्यकालीन साहित्य से की जाए तो निस्सन्देह इसे प्रगतिशील साहित्य कहा जायेगा। परन्तु पूंजीवाद के अन्तिम युग के साहित्य में मानसिक विलासता और अवसाद के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। अब पूंजीवाद ने स्वयं नवीन शक्तियों को जन्म दिया है। यह साहित्य के विकास के हित में है कि साहित्य इन शक्तियों का द्योतक बन जाए। प्रगतिशील साहित्य ने इसके अतिरिक्त किया भी क्या है कि उसकी निन्दा की जाए। जो लोग हमारा साथ नहीं दे सकते उन्हें अपने बुढ़ापे से गिला होना चाहिए, परन्तु नये साहित्य की जवानी से कुपित होने का कोई उचित कारण दिखाई नहीं पड़ता। यदि मानव साहित्य की परिधि निरन्तर विस्तृत होती जा रही है तो वर्तमान प्रगतिशील साहित्य भी इस विकास की एक कड़ी होगा जिसे आगे आने वाली नस्लें कदाचित् इसी प्रकार प्रतिक्रियावादी, सुधारवादी और न जाने क्या कुछ कहेंगी। स्वयं प्रगतिशील साहित्य की दृष्टि-सीमा यह है कि आज का प्रगतिशील साहित्य कल का प्रगतिशील साहित्य न हो, अर्थात् ऐतिहासिक शक्तियों के संघर्ष में हमारा साहित्य इस हद तक सम्मिलित रहे कि बदलती हुई शक्तियों का सूक्ष्म सा कम्पन भी साहित्य के सागर में हिलोरें उत्पन्न करता रहे।

जब वर्तमान युग के आलोचक प्रगतिशील साहित्यिकों को गालियाँ देने पर उतर आते हैं तो वे यह नहीं सोचते कि इसमें प्रगतिशील साहित्यिकों का इतना दोष नहीं जितना उन परिस्थितियों का जिन्होंने इस साहित्य को जन्म दिया। हम तो इस युग के व्यक्तिगत द्योतक हैं। हम अवतारों की कलाओं से सुसज्जित नहीं। हम न होते तो कोई और होता। इसमें व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का इतना हाथ नहीं जितना ऐतिहासिक शक्तियों का। यह शक्तियाँ क्या हैं? इसका संक्षिप्त सा उत्तर है—"हमारे समाज की बदलती हुई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था।"

ग़दर के पश्चात् जागीरदारी व्यवस्था भारत के दो तिहाई भाग पर से समाप्त हो गई और शेष एक तिहाई भाग पर से भी शनैः-शनैः लुप्त हो रही है। इसलिए यह आवश्यक था कि दरबारी साहित्य भी धीरे-धीरे मिट जाए। दरबारों का आडम्बर-पूर्ण गद्य, जिसमें दरबारी ठाट की गहरी छाप थी, कम होती जाये और उसका स्थान सादा, सरल गद्य ले ले। पद्य भी स्वाभाविक और बन्धन-मुक्त हो जाये। आशय यह कि साहित्य का क्षेत्र विस्तृत होता जाये। क्योंकि साहित्य अब उच्चवर्ग से निम्नवर्ग में आने लगा था, या निम्नवर्ग के हाथ में जीवन की बागडोर आ रही है। इसलिये वह ज्योति जो नवाबों और राजाओं की महफ़िलों की शोभा थी अब दुकानदारों, कर्मचारी लोगों और कारखानों के मजदूरों के घरों में भी झिलमिलाने लगी है।

स्पष्ट है कि अब वे दरबारी आडम्बर बने नहीं रह सकते। और जो लोग आज भी उनको बनाए रखने का अनुरोध करते हैं, उन्हें चाहिये कि हमको कोसने के बजाए उस बीते हुए युग को वापस लाएं। बहादुरशाह को सिंहासन पर बिठाना चाहिए। स्कूलों और कालिजों को जो सरल शिक्षा के केन्द्र बनते जा रहे हैं, बन्द कर देना चाहिए। रेल मोटर आदि को वर्जित करके बैल-गाड़ियों से आने-जाने का काम लेना चाहिए—देखिये फिर वही साहित्य जीवित हो जाएगा।

यह सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति, जिसका आधार विज्ञान के कुछ आविष्कार हैं, हमारे पुराने युग से सर्वथा भिन्न है। पेट भर कर खाने के अतिरिक्त जीवन की दूसरी भोग-सामग्री जो केवल धनवान लोग (बहुधा धनवान लोग भी नहीं) प्राप्त कर पाते थे, अब मशीनों के द्वारा इतनी मात्रा में तैयार हो सकती हैं कि संसार का प्रत्येक प्राणी प्राप्त कर सकता है। पूंजीवाद के होते हुये भी मशीनों ने कम से कम इतना तो किया कि उस भोग-सामग्री का उपभोग अब समाज के वे वर्ग भी कर रहे हैं जो इस से पूर्व उन वस्तुओं को स्वर्ग ही में पाने की आशा रखते थे। दूसरे शब्दों में प्रकृति की देन से अब मनुष्यों की एक बड़ी संख्या, मनुष्यों की भांति रहती है। यह संख्या उस संख्या से कहीं अधिक है जो जागीरदारी युग में थी और उस संख्या से कहीं कम है जो उस युग में होगी जिसको लाने के लिये प्रगति-शील साहित्यिक दिन-रात चिल्लाते और चीखते हैं—मजदूर......

मज़दूर......मज़दूर !

"जिधर देखो मज़दूर के पक्ष में गला फाड़ रहे हैं। क्या उन लोगों को कोई और विषय नहीं मिलता ?" जब कहीं मैं इस टिप्पणी को सुनता हूँ तो मुझे दुःख के स्थान पर प्रसन्नता होती है। आज मज़दूर को प्रगतिशील साहित्य में एक विशेष महत्व प्राप्त है। इसके लिये प्रगतिवादी साहित्यिक इतने उत्तरदायी नहीं जितना कि वे परिस्थितियाँ जिन्होंने कारखानों, पूंजी और पूंजीवाद को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति और पूंजी ने कारखानों को जन्म दिया और कारखानों के कारण मज़दूर वर्ग एक सुगठित रूप में हमारे सामने आया। अर्थात् पूंजीवाद ने स्वयं अपने अन्तर-विरोध को जन्म दिया। द्वन्द्वात्मक शक्तियों की यह सृजनात्मक और विनाशात्मक क्रिया बहुत पुरानी है और मानव इतिहास के प्रत्येक अध्याय पर इसकी छाप अंकित है। अब इस में प्रगतिशील लेखकों का क्या दोष ? वे मज़दूर का पक्ष इसलिये लेते हैं कि मज़दूर भावी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की सृजनात्मक शक्तियों का उद्गम है। यदि साहित्य केवल एक कबीले तक सीमित नहीं रहा, यदि साहित्य की परिधि निरन्तर बढ़ती रही है, यदि साहित्य ने कबायली युग से लेकर पूंजीवादी युग तक मानव-जीवन के विकास की प्रत्येक मंज़िल का चित्रण किया है तो क्या कारण है कि यहां आकर साहित्य ठहर जाए और आगे बढ़ने से इन्कार कर दे ? वह लोग जो जड़ता, रूढ़ी और निष्क्रियता चाहते हैं, साहित्य की मृत्यु चाहते हैं और

नहीं जानते कि वे साहित्य को एक घातक दुर्घटना का शिकार बनाना चाहते हैं।

प्रगतिशील साहित्य का केन्द्र 'मजदूर' है यद्यपि बहुत से साहित्यिकों के निकट प्रगतिशील होने का चिन्ह यह है कि मजदूर से एक अस्पष्ट सा सम्बन्ध स्थापित किया जाए जिसका आधार वास्तव में कोरी भावना होता है। एक छिछली सहानुभूति से काम लेकर अपने काव्य, या कहानियों या नाटकों में मजदूर के प्रति दया के भाव जगाए जाएँ, जबकि वास्तव में मजदूर उनसे तनिक भी किसी प्रकार की "संरक्षकीय सहानुभूति और दया" की इच्छा नहीं रखता। दया-भाव विशुद्ध रूप से बुरजुआई है, वर्ग भेद और अवर भाव का सूचक है और इस लिये मजदूर के अहित में है। हमारे साहित्य का बहुत सा भाग जो मजदूरों के पक्ष में लिखा जा रहा है, उसका आधार दया-भाव ही है। मजदूर की यतीम बच्ची, मजदूर की बुढ़िया माँ, उसकी जवान पत्नी—सड़क पर अपने मेंहदी लगे हाथों से पत्थर कूटती हुई—कुछ इसी प्रकार के चित्रों से साहित्य की चित्रशाला को सजाया जाता है। परन्तु यह प्रारम्भिक और कला-विहीन प्रयास है। धीरे धीरे यह बाधायें दूर हो जायेंगी। दया-भाव का स्थान मैत्री-भाव और सहानुभूति का स्थान प्रेम ले लेगा। तब हम मजदूर के दुख-सुख का चित्रण अच्छे ढंग से कर सकेंगे—दुख और सुख इसलिये कि मजदूर हर समय रोता ही नहीं बल्कि हँसता भी है। कभी उसकी हँसी में विष घुला

होता है और कभी २ अबोध बालक की मुस्कान की भांति निर्मल और स्वच्छ होती है। हमें उसके दुख और सुख दोनों में भाग लेना है अन्यथा हम अपने साहित्यिक सन्तुलन और साहित्यिक सत्य को कायम न रख सकेंगे। मशीनी युग ने हमारे सामूहिक जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया है। जैसे जैसे मनुष्य प्रगति करता रहता है उसके व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र कम और उसके सामूहिक जीवन की परिधि बढ़ती रहती है। अब हम एक दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं। इन परिस्थितियों में एक दूसरे को समझने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है। उसके लिये अधिक सरल भाषा और कथा-वस्तु की आवश्यकता का अनुभव होता है। क्लिष्टता दरबारी आडम्बरों का एक अंग थी। यह युग प्रेस, रेडियो और सिनेमा का है। जनता की अभिरुचि के स्तर के उठाने के लिये लेखकों को भी अपने शीश-महल से बाहर आना पड़ेगा और इस भूमि पर यहां के मजदूर और किसानों से ऐसी भाषा में बात-चीत करनी होगी, जिसे वह कम से कम समय में आसानी से समझ लें और इस तथ्य को बहुत से प्रगतिशील लेखकों ने समझ लिया है। उनकी भाषा में जनता के मुहावरे और बोलचाल के ढंग स्वयं ही आते जा रहे हैं अर्थात प्रतिक्रियाशील लेखकों के शब्दों में 'भाषा "भ्रष्ट" हो रही है'। ये लोग अपनी भाषा का नाता जनता से जोड़ने पर तुले हुये हैं। और इस चेष्टा में क्लिष्ट-प्रियता को तिलांजली दे रहे हैं। इस कार्य में उन्हें बहुत सी कठिनाइयों—

भाषा विज्ञान सम्बन्धी और राजनीतिक व धार्मिक अन्धविश्वास—का सामना करना पड़ेगा। परन्तु फिर भी आशा है कि अन्त में प्रगतिशील लेखक अपने उद्देश्य में अवश्य सफल हो जायेंगे। इससे एक तो वे अपनी भाषा के कोष में अमूल्य वृद्धि कर सकेंगे और दूसरे वे अपनी भाषा को जनता के बहुत समीप ले आयेंगे। इसके विपरीत यदि साहित्य में मज़दूर के हितों की हिमायत इसी क्लिष्ट, उलझी हुई, जागीरदारी युग की देव वाणी में की जाती रही तो इससे मज़दूर को क्या लाभ होगा? वह इसे कैसे अंगीकार कर सकेगा?

नैतिकता के बदलते हुए सिद्धान्तों में 'लैंगिक प्रेम' (Sexual Love) की समस्या विशेष रूप से अपना समाधान चाहती है। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील लेखकों की निन्दा की जाती है। कहा जाता है कि प्रगतिशील साहित्य में प्रेम और नग्नता के अतिरिक्त है क्या? आप ने ठीक फ़र्माया। परन्तु यह तो बताइये कि उर्दू में "वली दक्खिनी" से लेकर "दाग़" तक और हिन्दी में बिहारी से लेकर महादेवी वर्मा तक, बंगाली में चंडीदास से लेकर टैगोर तक यदि प्रेम, नारी, विरह, मिलन, चाँद-चकोरी की कथाएँ नहीं तो और क्या हैं। यदि प्रगतिशील लेखक नारी में खोए हुए हैं तो क्या पुराने साहित्यिक मगरमच्छ और घड़ियाल के विषय में लिखा करते थे? इस प्रकार की टिप्पणी सुनकर मैं बड़ा विस्मित होता हूँ और सोचता हूँ कि आलोचक आलोचना करने से पहले अपने साहित्य भंडार बल्कि

समस्त विश्व के साहित्य-भंडार पर दृष्टि क्यों नहीं डालते। प्रेम आदि साहित्यिकों का सर्वप्रिय विषय रहा है। और जहाँ तक इस विषय और नग्नता का सम्बन्ध है प्रगतिशील लेखकों ने इसमें कोई नवीनता पैदा नहीं की है। हाँ उन्होंने यह अवश्य किया है कि प्रेम के व्यक्तिगत रूप को सामूहिक रूप देने की चेष्टा की है। महाजनी युग में विवाह और प्रेम का आधार और मापदण्ड दो हृदयों का मिलन नहीं होता बल्कि रुपया होता है। यही वह सामाजिक और आर्थिक मापदण्ड है जिस से हर प्रकार के मानवीय सम्बन्धों को नापा जाता है। प्रगतिशील लेखकों ने वर्तमान युग में प्रेम के असली रूप को उजागर किया है। वे चाँद और चकोर की अर्थहीन कथाओं में उलझ कर नहीं रह गए बल्कि उन्होंने सदा यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वर्तमान समाज की हृदय-हीनता और निर्दयता प्रेम के दीप को बुझा देती है और मानव-आत्मा को ज्योतिहीन कर देती है और उस पारस्परिक स्नेह को जला डालती है जो मानव के सामूहिक जीवन की चरम सीमा है।

इस निजी अनुभव को उन्होंने सामूहिक रूप में पेश किया है। प्रगतिशील साहित्यिक की नायिका पुराने साहित्यिक की नायिका से कितनी भिन्न है। दोनों प्रेम और सौन्दर्य के उपासक हैं परन्तु पुराने साहित्यिक की कल्पना भयानक हद तक व्यक्तिगत और निजी रंग में डूबी हुई है। वह उस दीप-शिखा के गिर्द मँडराता जो किसी पर्दे के पीछे छिपी बैठी है। इसके

विपरीत प्रगतिशील साहित्यिक ने भी प्रेम किया है परन्तु उसकी नायिका प्रतिक्रियावादी लेखकों से सर्वथा भिन्न है। यहाँ दृष्टिकोण का अन्तर है। जीवन वही है, नारी वही है, प्रेम का रूप-वही है; परन्तु कल्पना का घेरा विस्तृत हो गया है। यह कल्पना उसकी नायिका को पर्दे से बाहर निकाल कर भारत के गाँवों, खेतों और फैकट्रियों में ले जाती है। यहाँ जीती-जागती स्त्रियाँ काम कर रही हैं जिनके हाथ-पाँव साँवले सलोने हैं, जिनके केशों में धरती की मिट्टी है, कारखानों का धूआँ है, सूर्य का सोना है, जिनके हाथों में या तो दराँती है या भेड़ के बच्चे या घास के गुच्छे। इन स्त्रियों में भी सौन्दर्य है, परन्तु यह सौन्दर्य लजीला नहीं उद्दंड और निर्भय है, भूमि का जीता-जागता सौन्दर्य है जो मेंहदी, रेशमी परदों और शृंगार से बहुधा वंचित और विमुख रहता है। यह स्त्रियाँ न दीप-शिखाएँ हैं, न अप्सराएँ हैं न देवियाँ बल्कि स्त्रियाँ हैं। और क्योंकि ये दीप-शिखाएँ नहीं इसलिए इन्हें देह से विमुक्ति नहीं क्योंकि ये देवियाँ नहीं, इस लिए उन्हें अपने लिए किसी देवता की नहीं बल्कि मनुष्य की चाह है।

प्रगतिशील लेखकों ने साहित्य में सामूहिक प्रेम की नींव डाली है। किसी एक व्यक्ति से प्रेम करने के स्थान पर उन्होंने अपने देश से प्रेम करना सीखा है। इस से भी आगे बढ़कर वे संसार भर के मनुष्यों में भाईचारा और शान्ति के इच्छुक हैं। उन्होंने अपने साहित्य का केन्द्र मज़दूरों और किसानों को बनाया है जो

संसार भर में फैले हुए हैं। जिनके परिश्रम से संसार का कारबार चलता है, जिनकी बरकत से हर प्रकार के लेखक चाहे वे प्रगति-शील हों या प्रतिक्रिया शील, रोटी कमा खाते हैं। यह प्रेम अभी कवित्वहीन और अनाकर्षक सही, कदाचित इस में अभी वर्णन की वह कोमलता और सुन्दरता उत्पन्न नहीं हुई जो प्राचीन कविता का विशिष्ट लक्षण है। परन्तु जैसे २ लेखक इस वर्ग के समीप होते जाएँगे, यह प्रेम अधिक गहरा, सच्चा और स्थायी होता जाएगा और इसमें ऐसा सौन्दर्य, ऐसी दिव्यालोक-पूर्ण महानता उत्पन्न होगी जिसके समुख व्यक्तिगत प्रेम की आभा मन्द पड़ जाएगी। प्रगतिशील साहित्यिक इस सामूहिक प्रेम के आधार पर जीवन की एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें संसार के इतिहास में प्रथम बार सच्चा प्रेम और सच्ची समानता का राज्य होगा—एक ऐसी व्यवस्था जिसमें अत्याचारी और लुटेरा राजा और महाजन कोई न होगा, जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम का नाता होगा—प्रेम और स्वतंत्रता, क्योंकि कोई मनुष्य उस समय तक पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हो सकता जब तक वह दूसरे को स्वतन्त्रता न दे।

इस प्रकार के इरादों और उद्देश्यों के लिए, जिनसे हमारे साहित्य को सींचा जा रहा है, परिस्थितियाँ कदाचित अनुकूल नहीं हैं। कदाचित संसार एक बहुत संकट पूर्ण युग से निकलने वाला है। कदाचित तेज और भीषण आंधियाँ इस नई खेती को वीरान बनाने पर तुली हुई हैं। यह सब कुछ है परन्तु हम

अन्तर्विरोधी शक्तियों के साथ हैं और उनके विकास की गति को तेज करने में योग दे रहे हैं। कभी यहाँ, कभी वहाँ कठिनाइयों का सामना करना होगा। जड़ता, निष्क्रियता और अवनति भी अस्थायी रूप से हमारी प्रगति में बाधक बन सकती है। परन्तु, जैसा कि मैंने कहा, हम अन्तर्विरोधी शक्तियों के साथ हैं और मानव इतिहास साक्षी है कि उन शक्तियों के विकास को आज तक कोई न रोक सका।

आशा का प्रभात

९.

'नए जाविये' के पहले और दूसरे भाग के प्रकाशन के बीच में एक भयानक महायुद्ध की घटना घटी। पश्चिम में इसके रक्त-पात की लालिमा दूर होने को है, परन्तु उधर पूर्व में प्रभात की आभा अभी नहीं फैल पाई है। कोई नहीं कह सकता कि भोर की लालिमा पूर्व में कब फैले। एशिया की आत्मा व्याकुल होकर क्षितिज की ओर से ताक रही है कि कब वह आभा उत्पन्न हो जो इसके कण-कण में एक नये जीवन की लहर दौड़ा दे। पश्चिमी राज्यों की घृणित अभिलाषाएँ और उनके अपने २ लाभों की टक्कर अभी तक उस आभा पर आवरण डाले हुए है। उधर एशिया में इतनी शक्ति नहीं, इतना आत्म-गौरव नहीं, इतनी कार्यशीलता नहीं कि वह छाती ठोंक कर मैदान में उतर आये। इस में सन्देह नहीं कि उसमें अपनी शक्ति की अनुभूति उत्पन्न हो

चुकी है, परन्तु यह अनुभूति अर्ध-मानसिक-चेतना तक ही सीमित है। एक घायल, विह्वल लय उसके हृदय में आत्माभिव्यक्ति के लिये तड़प रही है, परन्तु उसमें बाज जैसी शक्ति नहीं है कि एक ही झपट में अपने उद्देश्य को प्राप्त कर ले।

इस महायुद्ध ने इस आन्तरिक तड़प को, इस विह्वलता को भारतीय साहित्यकारों के हृदय और मस्तिष्क में तीव्र रूप से उत्पन्न कर दिया है। भारतीय साहित्यिकों की रचनाओं में इस महायुद्ध का यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। परन्तु ताना-शाही और लोकतन्त्रवाद के बीच में जो सैद्धान्तिक संघर्ष है; इस संघर्ष के जो भावात्मक और बौद्धिक पहलू हैं, और इस संघर्ष को उत्पन्न करने वाली जो शक्तियां हैं उनका विश्लेषण एवं उनका उल्लेख तथा उनका भारतीय वातावरण और मस्तिष्क पर क्या प्रभाव है—इन सब बातों का वर्णन हमारे साहित्य में नहीं है। और अब जबकि युद्ध लोकतन्त्रात्मक शक्तियों की विजय में समाप्त होने को है, इस वर्णन एवं अभिव्यक्ति की सम्भावना और भी कम हो गई है।

इसका कारण यह नहीं है कि भारतीय साहित्यकार ताना-शाही के विकट संकट से परिचित नहीं हैं या वे इस युद्ध के सैद्धान्तिक कारणों को समझे ही नहीं हैं, या वे उस निबिड़ अन्धकार को नहीं देख सकते जो तानाशाही के विजयी होने की सूरत में भारत के साहित्य पर छा जायगा। इसके विरुद्ध वास्तविक बात यह है कि हमारे अधिकांश विचारकों और साहित्यकारों के

मस्तिष्क में तानाशाही की सारी कड़ियां, उसका इतिहास तथा उसके सारे पहलू अत्यन्त स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। वे उसकी भयंकर हानियों से परिचित हैं, उसकी बुराई करते हैं और उसके विरुद्ध प्रौपेगैन्डा भी करते हैं—पत्र-पत्रिकाओं में, लेख लिखकर, रेडियो पर से भाषण देकर, सेना में भर्ती होकर, जनता के सामने व्याख्यान देकर, गीत गाकर, नाटक खेल कर, हर उपाय से और हर क्षेत्र में उन्होंने प्रौपेगैन्डा करके जनता के विचारों और भावनाओं को तानाशाही के विरुद्ध उभारने का प्रयत्न किया है। वे अपने प्रौपेगैन्डा में कहां तक सफल हुए हैं, यह विषय साहित्यिक वाद-विवाद के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं हो सकता। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से ये प्रयास कोई महत्त्व नहीं रखते। हमारे साहित्य में इनको वह स्थान प्राप्त नहीं है जो इसी विषय पर लिखे गए मसाले को चीन और रूस के साहित्य में प्राप्त है।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है? हमारे साहित्यकारों में अध्ययन-शीलता, विश्लेषणात्मक शक्ति और ऐतिहासिक दृष्टिकोण की कमी नहीं है। फिर यह परिस्थिति कैसे उत्पन्न हुई? इसका कारण खोजने के लिये हमें उस मूल-संघर्ष का अध्ययन करना पड़ेगा जो युद्ध प्रारम्भ होने के समय, बल्कि उससे भी पहले, हमारे साहित्यकारों के मस्तिष्क में विद्यमान था, और जिसका प्रभाव अभी शेष है और जो इनकी रचनाओं में बार-बार झलकता है। यह संघर्ष उस वातावरण की उपज है जो

हमारी विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों के कारण देश भर में छाया हुआ है। वातावरण से साहित्य अलग नहीं रह सकता—वास्तव में वह वातावरण की ही उपज होता है। हमारे साहित्य-कारों ने इस वातावरण के अन्दर रहकर इसे बदलने का प्रयत्न अवश्य किया है और इस महायुद्ध के सैद्धान्तिक रूप को समझ कर और इसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इतिहास के बहाव को तीव्रतर कर देना चाहा है, परन्तु यह प्रयास हमारे देश की राजनैतिक परिस्थिति से उत्पन्न हुए वातावरण से टकरा कर चूर-चूर हो गया है। इस वातावरण से बच निकलना मानसिक तौर पर सम्भव नहीं है, परन्तु भावनाओं की विवशता बहुत प्रबल है। परिणाम यह होता है कि जब भारतीय साहित्यकार तानाशाहियों के गर्हित आचरण पर दृष्टिपात करता है और उनके कुकर्मों से प्रभावित होकर लोक-तन्त्रवादियों का साथ देना चाहता है तो तुरन्त ही उसके मन में मित्र-राष्ट्रों की जनता-विरोधी कार्यवाहियों की याद चक्कर लगा देती है। उसी क्षण उसकी दृष्टि अपने देश के राजनैतिक वातावरण और विषमता पर पड़ती है जहां अभी तक सच्चे लोक-तन्त्र का अभाव है और जिसके शासन-तंत्र में कई तानाशाही नियम काम कर रहे हैं। जब वह सोचता है कि तानाशाही के हाथों सारे संसार की स्वतंत्रता संकट में है और इस संकट के कारण जब उसके मस्तिष्क में ताना शाही के विरुद्ध घृणा की भावना तीव्र होना चाहती है तो तत्क्षण उसके मस्तिष्क में 'एटलांटिक चार्टर' घूम जाता है जो संसार

के लिये लोकतंत्र का पट्टा है परन्तु जो, मिस्टर चर्चिल के शब्दों में, भारत पर लागू नहीं किया जा सकता। भारतीय साहित्यकार उस राष्ट्रीय एवं जातीय भेद-भाव और पारस्परिक घृणा का अनुमान करता है जो तानाशाही शक्तियों के कार्य-क्रम की अनिवार्य उपज है, परन्तु उसकी बुद्धि, उसकी साधारण समझ यह मानने से इन्कार कर देती है कि उसका अंग्रेज शासक उसके राष्ट्र के विरुद्ध अपनी राष्ट्रीय उच्चता और शासित राष्ट्र के विरुद्ध घृणा की भावना रखने का अधिकारी है। जब एक भावुक और विचारवान् साहित्यकार इन परस्पर टकराने वाली परिस्थितियों और परस्पर विरोधी भावों के संघर्ष में फंस जाता है तो उसका मस्तिष्क परिस्थिति की वास्तविकता पर विचार किये बिना नहीं रह सकता।

परन्तु यह स्थिति भारतीय साहित्यकारों की ही नहीं है। रूस और चीन को छोड़कर योरुप के शेष देशों तथा एशिया के सारे देशों के साहित्यकारों की मानसिक दशा इसी प्रकार की है। वे भी उपरोक्त संघर्ष को तथा विरोध को अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं।

स्पेन की आन्तरिक लड़ाई ने अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस तथा अन्य योरुपीय देशों के साहित्यकारों में तथा उनकी साहित्यिक रचनाओं में एक नए जीवन का संचार कर दिया था, परन्तु महायुद्ध ने जैसे उनकी रचनात्मक शक्तियों को सुला दिया है। इस समय तक वे एक पंक्ति अथवा एक पद भी ऐसा नहीं लिख

सके हैं जिसे उच्च कोटि के साहित्य का नाम दिया जा सके। सम्भवतः वे भी इसी अन्तर्द्वन्द्व का शिकार हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

"हमारे युग की परिस्थितियों का यह अवश्यंभावी परिणाम है,
और हम इस पर गर्व नहीं कर सकते,
कि हम जो ऊँचे स्वप्न देखा करते थे,
आज कम बुराई की अधिक बुराई के मुक़ाबले में संरक्षता
कर रहे हैं।"

स्पेन का आन्तरिक युद्ध वास्तव में इस महायुद्ध का प्रारम्भ था। उस समय प्रगतिवादी साहित्यिकों की सहज बुद्धि ने अवसर की विकटता एवं विषमता को अच्छी तरह समझ लिया था। उन्होंने अच्छी तरह से महसूस कर लिया था कि फैसिज्म का यह बगूला जो आज स्पेन में धुरी-शक्तियों के षड्यंत्र के कारण उठा है, एक दिन विश्व-व्यापी युद्ध का रूप धारण करेगा। वे समझ गये थे कि यह प्रतिकूल वायु थोड़े ही दिनों में एक भयानक झक्कड़ का रूप धारण कर लेगी जो मानव-जाति को वर्षों तक खून के बिस्तर पर तड़पाएगी और घातक पीड़ा के समुद्र में इसे डुबो देगी। ये प्रगतिशील साहित्यकार मानव-जाति को इस भयङ्कर संकट से बचाना चाहते थे और इसे विकट झक्कड़ से सुरक्षित करना चाहते थे। इनकी सहज-बुद्धि उन्हें बता रही थी कि यदि इस समय उन्होंने संसार को इस घोर संकट से सावधान न किया और इसे बचाने का प्रत्यन न किया

तो यह संसार महायुद्ध की भयङ्कर लपटों से न बच सकेगा। स्पेन का युद्ध प्रगतिशील साहित्यकारों का पहला महत्त्वपूर्ण मोर्चा था। इस अवसर पर उनकी भावनाओं, उनके विचारों और उनकी अन्तर्चेतना में सम्पूर्ण सामंजस्य था। इसी सामंजस्य के फलस्वरूप उन्होंने 'इन्टरनैशनल ब्रिग्रेड' की रचना की जिसने प्रगतिवादियों के सन्देश को संसार भर में फैला दिया, जिसने अमरीकी साहित्यकार हैमिंग को 'For Whom the Bell Tolls' जैसा उपन्यास लिखने पर विवश किया। भारत में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, अहमद अली और अंग्रेजी साहित्य में एडविन, स्पिण्डर, रॉल्फ फ़ॉक्स, डी. लूइस, मैकरीस, कैडोल जैसे साहित्यकारों को उभारा। आज भी इनमें से अधिकांश लोग लिख रहे हैं—कुछ प्रौपेगैन्डा, कुछ दर्शन, कुछ उपदेश, कुछ रूमानी साहित्य और कुछ लोग कुछ और। कई लोग चुप बैठे हैं—मुँह में अंगुली डाले विस्मय से देख रहे हैं। कुछ लोग अच्छे साहित्य का सृजन कर रहे हैं। परन्तु ऐसा साहित्य नहीं रचा गया जो युद्ध के कटु वातावरण को अंकित करता हो, जो फैशिज़्म के विरुद्ध उस तीव्र भावना और घृणा से ओतप्रोत हो जो हमें शोख़ोलाफ़, इलिया ऐहरनबर्ग और वाहलवैस्का के साहित्य में मिलता है। कारण स्पष्ट है—हम कम बुराई की अधिक बुराई के मुक़ाबले में संरक्षा कर रहे हैं। मस्तिष्क सब कुछ समझता है और अपनी पूरी शक्ति के साथ उसका वर्णन करना चाहता है, परन्तु इस बौद्धिक समझ-

बूझ के विपरीत एक भिन्न भावनात्मक लहर कार्यशील है। यह भावना कुछ और चाहती है, या कुछ और भी चाहती है। और यही वह भयानक मानसिक संघर्ष है, वह विचारात्मक विरोध है जिसकी ओर मैंने ऊपर संकेत किया है और जो हमारे अधिकांश साहित्यकारों—पाश्चात्य तथा पूर्वीय—दोनों के मस्तिष्क में छाया हुआ है। इस विरोध ने उनकी लेखनी में इस हद तक जंग लगा दिया है कि वे इस क्षेत्र में कुछ लिख ही नहीं सकते; और यदि वे कुछ लिखते भी हैं तो वह उच्चकोटि के साहित्य में सम्मिलित किये जाने योग्य नहीं होता। केवल रूसी साहित्य, और कुछ हद तक चीनी साहित्य भी, इसके अपवाद स्वरूप हैं। वहाँ उपरोक्त ढग की परिस्थिति नहीं है, वहाँ का वातावरण बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। उस वातावरण में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन हो सकता है। इस युद्ध ने वहाँ के साहित्यकारों को विचारों, भावनाओं—अन्तर और बाह्य—को ऐसे संगम पर खड़ा कर दिया है कि जहां एक सत्यनिष्ठ, जीवित-जाग्रत, जीवनदायक साहित्य का सृजन हो सकता है। 'गाँव', 'सिबस्तापोल का घेरा', 'पेरिस का बचाव', 'घृणा', इत्यादि ऐसी रूसी रचनाएँ हैं जिन पर मानव-साहित्य सदा के लिये गर्व कर सकता है। दूसरे देशों के साहित्याकारों को यह गौरव प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि उनके यहां उनके विशिष्ट वातावरण के कारण वह सामंजस्य, वह एक-रसात्मकता उत्पन्न नहीं हुई थी। और हिन्दुस्तान में भी जहां पर यह चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ है

वहां पर यह बाह्य विरोध, यह विशृंखलता नहीं है। उदाहरण के तौर पर बंगाल के अकाल की दुर्घटना लें, जिसने बिजली की-सी तेजी के साथ हमारी बुद्धि और भावना को एक स्तर पर ला खड़ा किया और उनमें सामंजस्य उपस्थित कर दिया। मानो कौंदे की एक लपक ने सारे भारत के साहित्यकारों के मस्तिष्क को प्रकाशमान् कर दिया। सारे प्रान्तों के साहित्यकारों ने इस विषय पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है, और उसका अधिकांश भाग बहुत सुन्दर लिखा गया है। इस विशेष समस्या और विषय पर प्रगतिवादी और अप्रगतिवादी का भेद मिट गया है। जिन साहित्यकारों ने इस विषय पर लेखनी उठाई है, वे विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों और क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। 'जिगर' मुरादाबादी, 'हफ़ीज़' होशियारपुरी, 'अहमद नदीम' क़ासमी, देवेन्द्र सत्यार्थी, 'अख़्तरुल-ईमान' और अन्य साहित्यकारों की रचनाओं का अध्ययन कीजिये। इनमें भारत की चीख़ सुनाई देगी, और जब तक इन समस्याओं का हल नहीं होता, सदा सुनाई देती रहेगी—क्योंकि इस समस्या के सम्बन्ध में हमारा मस्तिष्क और हृदय, विचार और भावनाएं, एक हैं। यह वह बिन्दु है जिस पर विचार और भावनाएं मिल कर एक हो जाती हैं जिससे उच्च कोटि के साहित्य का सृजन हो सकता है।

इसके अतिरिक्त एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि स्पेन में हमें हार नहीं हुई, वहां वास्तव में मनुष्य की अन्तरात्मा की हार हुई। वह उस सुन्दर व्यवस्था की हार थी

जिसको प्राप्त करने के लिये समस्त संसार की जनता आज तक व्याकुल है। प्रगतिशील साहित्यकारों ने इस पराजय के कटु परिणामों को महसूस किया और यद्यपि उस पराजय ने उनके उत्साह को कम नहीं किया, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ समय के लिये उनकी रचनाओं में अपने आदर्श की दूरी की अनुभूति तीव्र हो गई।

युद्ध निकट आ रहा था इसलिये यह आवश्यक था कि साहित्यकार अपनी नई रचनाओं में इस रक्तिम भविष्य की आहट और धमक को उजागर करें और उसे संसार पर अच्छी तरह प्रकट कर दें। इसलिये स्पेन में आदर्श की दूरी की अनुभूति के साथ-साथ आने वाले महायुद्ध और युद्ध से सम्बद्ध मृत्यु के ताण्डव की अनुभूति से उनका मस्तिष्क अन्धकारपूर्ण हो गया। यूरोपियन साहित्य में इसका परिणाम, कुछेक साहित्यकारों की रचनाओं को छोड़ कर, पराजयवाद के रूप में प्रकट हुआ, परन्तु अंग्रेजी और अमरीकी साहित्यकारों ने अधिकांश रूप से प्रतिक्रियावाद की उस विजय को स्वीकार नहीं किया। (और बाद में इन साहित्यकारों के देशों ने रूस के साथ मिलकर फैशिज़्म के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा स्थापित किया)। परन्तु फिर भी इन साहित्यकारों के मन और मस्तिष्क पर मृत्यु की कल्पना छा जाती है—क्योंकि युद्ध से कोई विचारवान अथवा भावुक लेखक प्रसन्न नहीं होता। युद्ध किन्हीं परिस्थितियों में अनिवार्य सही, परन्तु उससे किसी मनुष्य को आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि जब

जॉन मरता है, या अमजद दम तोड़ता है, या ओवी मृत्यु का शिकार हो जाता है तो इसे केवल एक सिपाही अर्थात् एक इकाई, एक व्यक्ति, एक मनुष्य की मृत्यु नहीं समझना चाहिये, वरन् यह समझना चाहिये कि एक मनुष्य के मरने से शायद एक दुनिया मरती है जिसमें प्रेम और मानवीय स्नेह की सहस्रों रंगीनियां भरी हुई होती हैं—खाने की अभिलाषा, एक छोटे से घर में रहने की अभिलाषा, युवा होटों को चूमने की अभिलाषा, धरती पर लेटे-लेटे उच्च आकाश की नीली गहराइयों को ताकने की अभिलाषा—इसी प्रकार की हजारों-लाखों छोटी-छोटी अभिलाषायें उस एक जीवन में निहित होती हैं। इसलिये यह नितान्त सत्य है कि जब एक सिपाही मरता है, तो एक आशा मरती है, विज्ञान की कोई अद्भुत खोज मरती है, सौन्दर्य, प्रेम और रूमानियत का एक नमूना मरता है और संसार को पहले की अपेक्षा निर्धन और निर्जन छोड़ जाता है। इसलिये जहां प्रगतिवादी साहित्यकारों के मस्तिष्क पर मृत्यु की कल्पना छाई रहती है, वहां इसके भयंकर परिणामों के विरुद्ध और उस जीवन-पद्धति और शासन-पद्धति के विरुद्ध जो उस मृत्यु के भयंकर तांडव को सम्भव बनाती है, और हर बीसवें-पच्चीसवें वर्ष हमारे राजनीतिज्ञों, पूंजीपतियों और बैंकरों की कृपा से मानव-रक्त की नदियां बहाती है, एक निरन्तर विरोध भी उनकी कृतियों में मिलता है। अमरीकी और अंग्रेजी साहित्यकारों की रचनाओं में ही नहीं, वरन् स्वयं भारतीय साहित्यकारों की रचनाओं में हमें

यह चीज़ साफ़-साफ़ दिखाई देती है। भारतीय साहित्यकार यदि स्पष्ट रूप से युद्ध के सम्बन्ध में नहीं लिखते तो दूसरे ढंग से मृत्यु का विवरण उनकी रचनाओं में अवश्य आता है। उनकी कृतियों में मृत्यु की भयंकर छाया थरथराती रहती है और बहुधा मृत्यु का विचार जीवन पर और थकन की अनुभूति पुष्टता पर आच्छादित हो जाती है, जिसे हम पराजयवाद के क्षेत्र में इसलिये सम्मिलित नहीं करते कि अधिकांश रूप में इसी अन्धकार में से आलोक की किरण भी दृष्टिगोचर होती है।

महायुद्ध से सम्बन्धित समस्याओं को ज़रा छोड़ दीजिये। इनके अतिरिक्त हमारे साहित्यकारों ने दूसरी सामाजिक समस्याओं में भी बहुत दिलचस्पी ली है—विशेष कर उन समस्याओं में जो हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में उलझनें पैदा करने का कारण बनी हुई हैं। देश की भिन्न २ समस्याओं का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जिसका हमारे साहित्यकारों, कवियों, कहानी-लेखकों, हास्य-रस के लेखकों आदि ने विश्लेषण करके उसका ठीक हल न बताया हो। धर्म, परम्परा, संस्कृति, शिक्षा, रीति-रिवाज का कोई पहलू ऐसा नहीं जिसे हमारे साहित्यकारों की कल्पना और विचार ने न छूआ हो और जिसे उन्होंने ठीक ऐतिहासिक माप-दण्डों से न नापा हो। यही कारण है कि आज देश की बुद्धिमान् और समझदार मंडलियों में इनकी रचनाओं को आदरणीय स्थान प्राप्त है और वे इन साहित्यकारों की तीक्ष्ण बुद्धि और पैनी सूझ के प्रशंसक हैं। वे चाहते हैं कि

ये साहित्यकार अपने कर्तव्य का भरसक पालन करते रहें। इसीलिये वे लोग इन साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने में कोई कसर नहीं उठा रखते—यहां तक कि वे उनकी उन भूलों को भी क्षमा कर देते हैं जो आरम्भ में हर नए आन्दोलन और उसके चलाने वालों से अपने जोश के या अनुभव न होने के कारण हो जाती हैं। इनके मुक़ाबले में वे लोग भी हैं जो इस आन्दोलन का उचित व अनुचित विरोध करने की मानो उधार खाए बैठे हैं। इनमें से अधिकांश वे लोग हैं जो शान्ति और साहित्य के पुजारी हैं। हमें इन महानुभावों की नीयत या उनकी मान्यताओं की हार्दिकता में कोई सन्देह नहीं। वे नए साहित्य पर जो आक्षेप करते हैं अपने विशिष्ट दृष्टिकोण और परम्पराओं के कारण करते हैं। वे सच्चे हृदय से यह समझते हैं कि हम लोग भाषा, संस्कृति और साहित्य की जड़ों को काट रहे हैं, इनकी रूप-रेखा को हम बाज़ारी आवरण पहना रहे हैं और उन्हें जनता की चीज़ बनाकर हम उनकी मिट्टी पलीद कर रहे हैं।

यहां हम इन बड़े लोगों की सेवा में यह निवेदन करना चाहते हैं कि यद्यपि आपकी भावना शुद्ध है, किन्तु आपका निरीक्षण ठीक दृष्टिकोण पर अवलंबित नहीं है। हमने कभी अपनी भाषा के अतीत को, उसकी महान परम्पराओं को और इन महान् रचनाओं को नहीं भुलाया, क्योंकि अतीत हमारा है। वह हमारी साहित्यिक शृंखला और संस्कृति की एक ऐतिहासिक कड़ी है। वर्तमान और भविष्य उस अतीत के बहाव का अवश्य-

म्भावी परिणाम हैं जिसके मील के पत्थर 'मीर', 'ग़ालिब', 'अनीस', 'मोमिन', 'नज़ीर' जैसे प्रतिभाशाली कवि हैं। वर्तमान और भविष्य के मूल्यों को आँकने के लिए अतीत का अध्ययन बहुत आवश्यक है—विशेषकर उन साहित्यकारों का अध्ययन जिन्होंने हमारी भाषा को प्रौढ़ और पुष्ट बनाने में अपनी सारी आयु व्यतीत कर दी, जिन्होंने अपने युग को अभिव्यक्त किया और उन प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाया जिनकी सहायता से आज हम इस मंज़िल तक पहुँच सके हैं। जब जीवन का रूप बदल जाता है तो कला का रूप भी बदल जाता है। यह एक अटल सत्य है और इसे कोई झुठला नहीं सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि जीवन क्षण-क्षण बदलते हुए भी सदा एक लड़ी में पिरोया रहता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य एक ऐतिहासिक शृंखला में बंधे हुए रहते हैं। इसलिये अपने साहित्य के सम्पूर्ण अतीत का परिहास एवं निन्दा एक सच्चा प्रगतिशील साहित्यकार नहीं कर सकता। प्रगतिवादी साहित्यकारों की कविता-शैली नई है, कहानियों का विषय नया है, उनके साहित्य का कलेवर नया है। परन्तु यह तो जीवन का गुण है। अन्तर केवल इतना है कि आप बदलते हुए जीवन का साथ नहीं देना चाहते और इसे उन्नति की ओर बढ़ने की बजाय अवनति की ओर धकेलना चाहते हैं और हम इसकी तीव्र गति से भी संतुष्ट नहीं।

फिर ऐसा क्यों है कि वे महानुभाव भी, जो अच्छी तरह जानते हैं कि साहित्य की अधिकांश पूंजी, तथा स्वयं उनके अपने

अनुभव की अधिकांश पूंजी सैक्स पर आश्रित है, प्रगतिवादी साहित्य से इसलिये रुष्ट हैं कि इसके तत्त्वों में सैक्स और उससे सम्बन्धित समस्याएं सम्मिलित हैं। सैक्स की विवेचना हर साहित्य में उस समय तक रहेगी जब तक जीवन में इसका महत्त्व रहेगा। हमारे प्रगतिवादी साहित्यकार जीवन की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखते हुए सैक्स को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना उसे इस समय मिलना चाहिये। अन्तर केवल इतना है कि वे सैक्स-सम्बन्धी समस्याओं पर दृष्टिपात करते हुए आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं की भी विवेचना कर जाते हैं। यदि कुछ प्रगतिवादी साहित्यकार मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर लेखनी उठाने में अधिक आनन्द अनुभव करते हैं तो कुछ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक समस्याओं में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। कुछ आर्थिक एवं ऐतिहासिक बातों की ओर अधिक झुकाव रखते हैं तो कुछ केवल सैक्स पर लिखते हैं। परन्तु यदि सामूहिक रूप से देखा जाय तो नए साहित्य में सैक्स का अंश पहले की अपेक्षा बहुत कम है।

नये सैक्स साहित्य के सम्बन्ध में जो बात पुराने विचारों के लोगों को खटकती है वह है उसका मुक्त वातावरण और निःसंकोचता। इसे वे बहुधा 'नग्न' कहते हैं। परन्तु यही मुक्तावस्था और स्वच्छन्दता प्रगतिवादी साहित्यकार ने सामन्ती घुटन और उसके परम्परा-बद्ध साहित्य से छीनी है और इसे वह अब किसी भी मूल्य पर खोने के लिए तैयार नहीं है। सामन्ती

साहित्य में 'माशूक़' क्रूर था, 'आशिक़' वफ़ादार और 'दरबान' सचेत। अथवा माशूक़ रण्डी होती थी, आशिक़ जूतियां चटखाने वाला और 'रक़ीब' (प्रतिद्वन्द्वी) सदा सफल होने वाला। यह एक ऐसी त्रिकोण थी जिसके वार्तालाप में और इनसे सम्बन्धित भावाभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने वाली उपमाओं व अलंकारों में अब कोई जान नहीं रह गई थी। इसका कारण यह है कि जीवन ने पुराने वस्त्र उतार फेंके थे। सभ्य, शिष्ट और वैभवशाली 'उमराव जान' 'अदाओं' के औद्योगिक युग में 'मन्टो' की 'हतक' बन गई थी। चिलमन की ओट से झांकने वाली प्रेमिका अब 'इस्मत' की 'कालिज की लड़की' और अस्करी की 'हरामजादी' बन गई थी। 'मधुबाला' ने 'जाम' छोड़कर 'दरान्ती' सम्भाल ली थी और अब वह 'नदीम' की कविताओं में बेरियों की छाया में गाती फिरती थी। 'मधुशाला' समाप्त हो रही हैं। कारख़ाने चालू हो रहे हैं, अब नया जीवन है, नए चित्र, नए नापमान। सामन्ती साहित्य ने जहाँ सैक्स के विवरण को सीमित कर दिया था वहां उसकी भाषा और संकेतों के चारों ओर भी 'शिष्टाचार' और परम्परा की दीवारें खींच दी थीं। अब ये दीवारें टूट चुकी हैं। अब भविष्य में सैक्स-सम्बन्धी समस्याओं पर स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत होगी। आपकी गुप्त, घुटी हुई, दबी हुई सैक्स-सम्बन्धी अभिलाषाओं, इच्छाओं, झुकावों और गति-विधियों का विश्लेषण उन्मुक्त, स्वतंत्र, स्वस्थ दृष्टिकोण से किया जाएगा। उस समय यह प्रकट होगा कि इसके बिना

आपके बाह्य रोगों की चिकित्सा हो ही नहीं सकती। बहुत समय तक आपने इसे 'सभ्यता' के चोगे में छुपाये रखा, परन्तु अब तो इससे बू आने लगी है—यह वही सआदत हसन मन्टो की 'बू' है जिसे आप इतनी 'बद' कहते हैं। यह बू आप ही के शरीर से आ रही है। यह 'लिहाफ़' वही है जिसे आप स्वयं ओढ़े हुए हैं—बदबूदार, सड़ा हुआ लिहाफ़! आप इसे उतार फैंकिये—न यह 'बू' रहेगी, न 'लिहाफ़'। परन्तु जब तक आप ऐसा नहीं करते, ये प्रगतिवादी निरन्तर कहते रहेंगे और अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक, अधिक कठोरता के साथ कहते रहेंगे। इसी को आप 'नग्नता' कहते हैं।

सैक्स-सम्बंधी मामलों के सिलसिले में पुराने विचारों के महानुभावों ने प्रगतिवादी साहित्यकारों को भिन्न २ प्रकार से रगड़ा है और इन आक्षेपों को ठीक प्रमाणित करने के लिये बे-सिर-पैर की युक्तियां दी हैं। नए साहित्य की 'नग्नता' के विषय में मैं ऊपर लिख चुका हूं, अब मैं उसकी 'अश्लीलता' का विश्लेषण करता हूं। नए साहित्य पर यह दोष लगाया जाता है कि प्रगतिवादी साहित्यकार अश्लीलता का प्रचार करते हैं क्योंकि वे अपनी रचनाओं में स्त्री और पुरुष के अंगों का वर्णन इतने खुले तौर पर करते हैं और उन अंगों के वर्णन में ऐसी उपमाओं और संकेतों से काम लेते हैं कि हमारे सभ्य विचार भड़क उठते हैं और हमारे धैर्य और सहन-शक्ति का बांध टूट जाता है।

स्त्री और पुरुष के शरीर और उनके अंगों का वर्णन और

उनके लैंगिक सम्बन्ध का विश्लेषण साहित्य में कोई नई वस्तु नहीं है। इस सिलसिले में न केवल भारतीय भाषाओं के प्राचीन साहित्य से वरन् संसार भर की भाषाओं के प्राचीन साहित्य से उदाहरण दिये जा सकते हैं। केवल साहित्य की बात छोड़िये; अन्य कलाओं में भी मानवीय शरीरों और उनके अंगों और स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बंधों को खुले तौर पर व्यक्त किया गया है। नृत्य, संगीत, वास्तु—सभी ललित कलाओं में इनकी अभिव्यक्ति की गई है। और जब तक स्त्री और पुरुष रहेंगे तब तक यह अभिव्यक्ति होती रहेगी। लैंगिक मामलों, मानवीय शरीरों और उनके अंगो से जो नैसर्गिक आनन्द सम्बन्धित हैं उनसे हर व्यक्ति प्रभावित होता रहेगा। इस अनुभूति से आपकी मृत्यु, आत्म-हत्या या नामर्दी ही आपको बचा सकती है; अन्य किसी प्रकार से यह छुटकारा सम्भव नहीं। झूठ बोलने या कृत्रिम चारित्रिक नियमों की दुहाई देने से क्या लाभ ?

परन्तु यदि यह अनुभूति एक सच्चे, उचित और स्वस्थ आनन्द से आगे बढ़ जाती है और रोग एवं व्यसन का रूप धारण कर लेती है तो निःसन्देह इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं, क्योंकि एक पुष्ट, स्वस्थ, जानदार और प्रसन्न समाज की नींव वासनाओं से नहीं वरन् वासनाओं के त्याग और नियंत्रण से रक्खी होती है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे साहित्यकारों के यहां वह स्वस्थ आनन्द भी नहीं है जो बहुधा प्रगतिवादी रूसी, अंग्रेजी, अमरीकी, फ्रांसीसी साहित्यकारों की

रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। हमारे नए साहित्यकार तो अधिकांश रूप से स्त्री और पुरुष के शरीरों का इस ढंग से वर्णन करते हैं कि आकर्षण तो दूर रहा, उलटा घिन आने लगती है। वे बहुधा सौन्दर्य का निरूपण नहीं करते, ज्यामिति की आकृतियां पेश करते हैं। स्वस्थ शरीर नहीं दिखाते, बीमार शरीरों को नंगा करके दिखाते हैं—यहां तक कि आप उनके गले-सड़े अंगों को और उनके पीप और लहू से रिसते हुए नासूर को देख सकते हैं। यदि यह अश्लीलता है तो निःसन्देह डाक्टर अश्लीलता-प्रेमी हैं।

नए लैंगिक साहित्य को बड़े-बूढ़े, जो अपनी समझ में जीवन की सारी बहारें लूट चुके हैं, बुरा-भला कहते थे, परन्तु अब यह साहित्य स्कूल के लड़के-लड़कियों के लिये भी बुरा समझा जाने लगा है। कहा जाता है कि हमें इन विषयों पर नहीं लिखना चाहिये, क्योंकि इससे स्कूल के लड़के-लड़कियों का चरित्र बिगड़ता है। परन्तु नए साहित्यकारों ने कभी यह दावा नहीं किया कि वे स्कूल के लड़के-लड़कियों के लिए लिखते हैं। प्रत्येक देश में नाबालिग विद्यार्थियों के लिए अलग साहित्य होता है, और यदि स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में शेक्सपियर और शैली जैसे उच्च-कोटि के साहित्यकारों को सम्मिलित किया जाता है तो उनकी रचनाओं की भी बड़े ध्यान से काट-छांट की जाती है और उन कटे-छंटे भागों को पुस्तकों में सम्मिलित किया जाता है। फिर आप यही सलूक 'जोश', 'मन्टो', 'इस्मत' आदि की रचनाओं के साथ क्यों नहीं करते? इन लोगों ने कभी यह दावा नहीं किया

कि वे बच्चों के लिए या उन लड़के-लड़कियों के लिए लिखते हैं जो भावों की दृष्टि से अभी कच्चे हैं और आसानी से भड़क सकते हैं। मुझे खेद है कि हमारे कुछ साहित्यकार केवल बच्चों के लिए क्यों नहीं लिखते। अमरीका में तो लैंगिक शिक्षा स्कूलों में बारह वर्ष की आयु से ही प्रारम्भ कर दी जाती है, परन्तु हिन्दुस्तानी शिक्षा-संस्थाओं ने इस परमावश्यक विषय की ओर अब तक तनिक भी ध्यान नहीं दिया है—यद्यपि अमरीकन बच्चों की अपेक्षा हिन्दुस्तानी बच्चे लैंगिक दृष्टि से जल्दी परिपक्व हो जाते हैं। लैंगिक शिक्षा को छोड़ दीजिये, प्रगतिवादी साहित्य का भाषा, विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र—अर्थात् पाठ्य-क्रम के प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में—विशिष्ट दृष्टिकोण है, और इन सब के सम्बन्ध में उसकी वर्णन-शैली नितान्त भिन्न है। मुझे याद है कि सन् १९३७ में प्रगतिवादी साहित्यकारों की जो कुल-हिन्द कान्फ्रेन्स कलकत्ते में हुई थी उसमें सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनन्द आदि साथियों की प्रेरणा से इस आशय का एक प्रस्ताव पेश हुआ था, और अब १९४४ में उर्दू कांग्रेस, हैदराबाद के अवसर पर भी इस प्रकार का एक प्रस्ताव पास किया गया है। परन्तु अभी तक हमारे साहित्यकारों ने इस प्रकार के साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। बच्चों की शिक्षा के प्रति उदासीनता का परिणाम देश, राष्ट्र और स्वयं प्रगतिशील साहित्य के लिए अच्छा न होगा।

इसके अतिरिक्त हमारे साहित्य में एक और बात है जिस पर

बार-बार दृष्टि जाती है। कल-कारखानों में तथा खेत में काम करने वाला मजदूर-किसान प्रगतिशील साहित्य का केन्द्र-बिन्दु अवश्य समझा जाता है, परन्तु पिछले पाँच वर्ष के अनुभवों के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि प्रगति के बहुत से पग बढ़ाने के बाद भी हमारे आन्दोलन के मौजूदा अंग अपने केन्द्रीय उद्देश्य से बहुत दूर हैं। कहने को तो हम यह कह जाते हैं कि भारत गाँवों में रहता है, परन्तु जब हम लिखने पर आते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारत गाँवों में नहीं वरन् नगरों में रहता है। नए साहित्य में जो दृश्य उपस्थित किये गये हैं इनमें से अधिकांश शहरी जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। यह एक कटु सत्य है कि भारतीय मजदूरों और किसानों के सुख, दुःख और उनकी समस्याओं का प्रतिबिम्ब हमारे साहित्य में नहीं के बराबर मिलता है। न जाने क्यों हम मजदूरों और किसानों के साथ गहरी सहानुभूति के ऊँचे-ऊँचे दावे करते हुए भी अभी तक शहरी गलियों और नालियों में घुसे हुए हैं। क्या सामाजिक गंदगी केवल शहरों में है जिनमें भारत की केवल २५ प्रतिशत आबादी रहती है। हर कविता, कहानी, नाटक और व्यंगात्मक लेख में बार-बार इसी जीवन के खाके पेश किये जाते हैं। अपने दृष्टिकोण को संग-मरमर के एक गुम्बद से निकाल कर संग-मरमर के दूसरे गुम्बद में बन्द किया जा रहा है। शायद ऐसा इस लिये है कि बहुत से साहित्यकार शहरी समाज में उत्पन्न हुए और वहीं पले हैं। फिर भी कुछ साहित्यकार ऐसे अवश्य हैं

जो या तो स्वयं किसी गाँव में रहते हैं, या किसी गाँव के रहने वाले हैं और उन्हें गाँव के सामाजिक जीवन का अच्छा ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त है। और कई बार उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से ग्रामीण-जीवन से सम्बन्धित कुछ विवेक-पूर्ण कान्तिमय चित्रों का निर्माण किया भी है। इसलिये मैं यह मान लेने को तैयार नहीं हूँ कि अब उनके अनुभवों की खान इतनी बांझ हो गई है कि वे इस विषय में और कुछ नहीं कह सकते। फिर इन साहित्य-कारों के अतिरिक्त हमारे साहित्य में वे लोग भी सम्मिलित हैं जो दिन-रात औद्योगिक मज़दूरों के साथ रहते हैं। उनका मौन रहना अत्यन्त अर्थ-पूर्ण है। क्या इस का यह अर्थ तो नहीं कि मध्य-वर्ग के साहित्यकार अपनी प्रगतिशीलता के होते हुए भी अब तक अपने वर्ग के दुर्ग से पूर्णतया बाहर नहीं निकल सके हैं, और न ही बाहर निकलना चाहते हैं। सच तो यह है कि साहित्य में मज़दूरों और किसानों की अभिव्यञ्जना के लिये मज़दूर और किसान साहित्यकारों ही को मैदान में आना पड़ेगा। कविताओं में भी प्रायः मज़दूर और किसान का उल्लेख ऐसे सांकेतिक ढंग से होता है जैसे वे मिट्टी के सुन्दर खिलौने हों—जड़, निर्जीव, गतिविहीन। मेरा विचार है कि जब साहित्य का इतिहासकार इस युग के साहित्य का इतिहास लिखेगा तो शहरी जीवन के सम्बन्ध में तो उसे पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जायगी, परन्तु यदि चित्र का दूसरा रुख़ जानने के लिये वह यह मालूम करने की चेष्टा करेगा कि इस युग में हमारे देश

का मज़दूर या किसान किस तरह रहता था; क्या खाता था; क्या पीता था; खेतों या कारखानों में किस तरह काम करता था; उस के रीति-रिवाज क्या थे; उसके गीत कौन से थे; उस के त्यौहार, उस के सुख, उसके दुःख क्या थे; वह अपने पड़ोसियों से कैसे मिलता-जुलता था; विवाह कैसे करता था; शहरी जीवन से उसके क्या सम्बन्ध थे; देश की समस्याओं पर किस प्रकार सोचता था; प्रेम, धर्म, नैतिकता, राजनीति, मानवता—इन विषयों के सम्बन्ध में उसकी क्या राय थी; तो हमारा साहित्य उसे इस सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी दे सकेगा—क्योंकि ये समस्त बातें इतिहास में नहीं लिखी जातीं, ये तो एक जीवित जाति के साहित्य में प्रतिबिम्बित रहती हैं और इसको तैयार करने का काम साहित्यकार ही करते हैं। इसलिये जब भविष्य का साहित्यिक इतिहासकार इस युग के साहित्य को खँगालेगा तो बहुत सम्भव है कि वह यह निष्कर्ष निकाल ले कि भारत एक शहर था, उसमें एक वेश्या रहती थी, एक कालेज की लड़की जिसका शरीर बर्फ़ जैसा था, और पूंजीपतियों को गालियां देने वाला एक रूमानी साहित्यकार और बस। इसके अतिरिक्त भारत में कुछ न था। अब यह कर्तव्य हमारा है कि हम भविष्य को अपने राष्ट्रीय जीवन के सम्बन्ध में ऐसी धारणा न बनाने दें।

काव्य वास्तव में साहित्य का मुकुट होता है और कवि उस की सर्वोत्कृष्ट परम्पराओं का रक्षक। काव्य एक ऐसा दर्पण होता है जिसमें देश और जाति का सच्चा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है—

उस युग का प्रतिबिम्ब जिसमें कवि पैदा होता है; उन समस्त दुःखों और सुखों का प्रतिबिम्ब जो किसी जाति की आत्मा में व्याप्त होते हैं। साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी इस चित्र के विभिन्न कलात्मक रूप प्रस्तुत होते रहते हैं। परन्तु जो विभोर कर देने वाले प्रभाव, अनुभूति की तीव्रता, वर्णन का सौंदर्य और भावों की कोमलता कविता में प्राप्त हो सकती है वह अन्य प्रकार के साहित्य और वर्णन-शैली में बहुत कम प्राप्त हो सकती है, और जब तक किसी देश या जाति का कवि जीवित है उस समय तक उस देश या जाति का गौरव और भविष्य सुरक्षित है।

नये साहित्य की काव्य-रचनाओं ने उत्कृष्टता और उन्नति के बहुत से पग एक दम आगे बढ़ा लिये हैं और उसने उन समस्त विचारों, कल्पनाओं और संकल्पों को उभरने का अवसर दिया है जो युगों से हमारे राष्ट्र के हृदय में तरंगित हैं और जिसे ठाकुर (टैगोर), इक़बाल, जोश और नज़रुस्सलाम ने वर्तमान युग की वाणी दी है और जिसे अब नये साहित्य के कवि नित्य नये रूप में हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं। जहाँ तक काव्य के विषय का सम्बन्ध है, इस काव्य का आंतरिक तत्त्व नये साहित्य के गद्य से समानता रखता है और हमारे साहित्य के दोनों विभाग—पद्य और गद्य—विषय-सम्बन्धी एकता के एक ही बिन्दु पर केन्द्रित दिखाई देते हैं। परन्तु जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है प्रगतिवादी कलाकारों ने इसमें भारी परिवर्तन किये हैं और अपने विषय अनोखे होने के कारण

कविता की शैली को भी एक ऐसे सांचे में ढालने का प्रयत्न किया है जो काव्य के विषय का साथ दे और आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से उनकी रचनाओं में एक स्थायी सामञ्जस्य और लय उत्पन्न करे, क्योंकि इस सामञ्जस्य के बिना कविता में गहराई और भावों की तीव्रता बहुत कम हो जाती है। काव्य-शैली में विशेष परिवर्तन अतुकान्त छन्द और स्वच्छन्द कविता के रूप में प्रकट हुआ है जिस पर आज-कल इतनी ले-दे हो रही है और जो छन्द-शास्त्रज्ञों और पुराने ढर्रे के आलोचकों की कड़ी आलोचना का विषय बनी हुई है।

ग़ज़ल के प्रेमियों की ओर से विशेषतया इस सम्बन्ध में विभिन्न आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। "नये काव्य में कच्चापन है (कच्चे-पन की कहीं व्याख्या नहीं की जाती कि वह क्या है।); संगीत की दृष्टि से यह कानों को अप्रिय लगता है, इसमें लय नहीं, संगीत नहीं, स्वर-ताल नहीं। जिस प्रकार ताल राग के लिये आवश्यक है उसी प्रकार तुक भी कविता का प्राण है और तुक की ध्वन्यात्मक समानता पढ़ने अथवा सुनने वाले के मन पर बार बार वही तल्लीन कर देने वाला प्रभाव उत्पन्न करती है जो तबले की थाप गीत में।" ऐसे आक्षेप वास्तव में वे लोग करते हैं जो ध्वनि-शास्त्र और संगीत के नियमों से अनभिज्ञ हैं—क्योंकि लय, स्वरताल, छन्दमाधुर्य, ध्वनि-सामञ्जस्य और इस प्रकार की अन्य परिभाषाएं पूर्ण रूप से इसी कला से ली गई हैं। सब से पहले ताल के विषय में कुछ कहना है। यह ग़लत है कि संगीत के लिए

ताल आवश्यक है। जिस प्रकार काव्य की शैली के दो रूप हैं—बद्ध और मुक्त, इसी प्रकार संगीत के भी दो रूप हैं—बद्ध और मुक्त। 'मुक्त' का उदाहरण 'आलाप' है और कलाकार जानते हैं कि 'आलाप' के लिये, जिस में राग का पूर्ण रूप विद्यमान होता है, ताल की कोई आवश्यकता नहीं होती और इसे प्रायः तबले की सहायता के बिना ही अदा किया जाता है। अब लय को लीजिए। ध्वनि-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द की एक विशिष्ट लय होती है और उसमें गद्य और पद्य में प्रयुक्त होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस तरह एक पद की लय उस पद के भिन्न भिन्न शब्दों की निजी लय के समूह का परिणाम होता है, इसी प्रकार एक गद्य-वाक्य की लय होती है। इसमें कविता और गद्य में कोई अन्तर नहीं। चूंकि दोनों में लय है इसलिये दोनों आसानी से संगीत में गाए जा सकते हैं। आप यदि समझ में न आने वाली ध्वनियों का एक समूह लें और उसे किसी संगीत-विशारद को सौंप दें तो निःसन्देह वह उस में भी संगीत की जीती-जागती आत्मा भर देगा। हमारे फिल्मी गीत, जो प्रायः लय रहित होते हैं, तथा शास्त्रीय संगीत के बोल इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। इस पर भी कई आलोचकों को यह कहने का साहस होता है कि अतुकान्त कविता और स्वच्छन्द कविता लय में नहीं गाई जा सकती। अब लय को लीजिये। लय कविता में शब्दों के विशेष क्रम से और राग में स्वरों के विशेष क्रम से पैदा होती है। यदि आप स्वच्छन्द कविता और अतुकान्त कविता का

अध्ययन करेंगे तो आप को मालूम होगा कि इनमें शब्दों का विशेष क्रम है और इस लिये लय इन में भी मौजूद है।

कुछ लोगों का विचार है कि अतुकान्त और स्वच्छन्द कविता पश्चिम की नक़ल है। हमारी भाषाएं और उनका पूर्वी स्वभाव तथा हमारी विशेष संस्कृति और प्राचीन परम्पराएं इस नई ढंग की कविता को सहन नहीं कर सकतीं। 'पश्चिम की नक़ल' हमारे आलोचकों का एक साधारण आक्षेप है और प्रगतिशील साहित्य का हर रूप इस आक्षेप का शिकार है। परन्तु हमारी वर्णन-शैली, हमारे विषय, हमारी विचार-धारा में सारी बातें पश्चिमी साहित्य से चुराई गई हैं और इसमें हमारी साहित्यिक क्षमताओं, उपज या हमारे देश के वातावरण को कोई दख़ल नहीं। हमारा गल्प-साहित्य, नाटक, काव्य की आलोचना आदि सभी पश्चिमी साहित्य से लिए गए हैं। मेरा निवेदन यह है कि प्रथम तो यह आक्षेप ही ग़लत है (और आगे चलकर मैं इसका उत्तर दे दूंगा), परन्तु इस समय मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि यदि आप कोट-पतलून पहन सकते हैं, चश्मा लगा सकते हैं, फ़ाउन्टेन-पैन प्रयुक्त कर सकते हैं, रेलगाड़ी में चढ़ सकते हैं, और हवाई जहाज़ में यात्रा कर सकते हैं, विवाह तथा अन्य अवसरों पर अंग्रेज़ी बैंड बजवा सकते हैं, डाक्टरी दवाओं को गले के नीचे उतार सकते हैं, यदि आप जीवन के निम्नतम से लगाकर उच्चतम क्षेत्र में—जैसे शिक्षा, उद्योग, अर्थशास्त्र, राज-नीति, आदि के क्षेत्रों में—पश्चिम का अनुकरण कर सकते हैं और

इसमें गर्व का अनुभव कर सकते हैं और यदि आपके जीवन का कोई पहलू, कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें पश्चिम का प्रभाव न झलकता हो तो फिर आप केवल अपने साहित्य को पश्चिम के प्रभाव से किस प्रकार दूर रख सकते हैं। क्या आप की बदलती हुई दुनिया के साथ आपका साहित्य नहीं बदलेगा ? और क्या वही क्रियाएं जो पश्चिम के सम्पर्क के कारण हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो रही हैं, साहित्य के क्षेत्र में नहीं होंगी ? इस समय जबकि पांचों भूखंडों की जातियां और उनकी संस्कृतियां आपस में गड्ड-मड्ड हो रही हैं, आप यह चाहते हैं कि साहित्य ऐतिहासिक शक्तियों के बहाव के साथ न चले, वरन् अतीत की रुकी हुई, ठहरी हुई, सड़ी हुई दलदल बन जाए। यह 'वापस चलो' का आन्दोलन आप को, देश को, तथा साहित्य को क्या लाभ पहुँचा सकेगा ?

परन्तु मुझे इस आक्षेप में इतिहास के ठीक ज्ञान की कमी भी दिखाई देती है। यह असत्य है कि अतुकान्त और स्वच्छन्द कविता हमारे पूर्वीय स्वभाव के प्रतिकूल है या यह हमारी संस्कृति के किसी पहलू पर आक्रमण करती है। पूर्व और पश्चिम में छन्द-बद्ध और छन्द-मुक्त कविता की परिपाटी युगों से चली आ रही है। इसमें पश्चिमी और पूर्वी स्वभाव कोई अन्तर नहीं डाल सका है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अतुकान्त कविता के आविष्कार का श्रेय एक तरह से पूर्व को प्राप्त है—जिस तरह गल्प के आविष्कार का श्रेय भारत को प्राप्त है। यह मैं नहीं कहता,

वरन् आलोचकों का कथन है कि 'छोटी कहानी' का जन्म भारत में हुआ। 'पंचतंत्र' कहानियों की सर्व प्रथम पुस्तक थी जो किसी भी देश में लिखी गई थी। उसके पश्चात् 'हितोपदेश'। इन दोनों पुस्तकों का अनुवाद पश्चिम की विभिन्न भाषाओं में हो चुका है। इसी प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों में, जो संसार की सब से प्राचीन श्रुति समझी जाती है, अतुकान्त और स्वच्छन्द कविता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इन कविताओं में छन्द है परन्तु 'तुक' नहीं है। वेदों के अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य के उच्च कोटि के नमूने अतुकान्त कविता के रूप में मिलते हैं। कहानी और अतुकान्त कविता की कला पश्चिम ने भारत से ली है। यदि आज हम अपनी प्राचीन कविता-प्रणाली और परम्परा की शृंखला को, जो शताब्दियों से टूट चुकी थी, फिर से ताजा करते हैं तो हमें इसका श्रेय मिलना चाहिए, न कि हमें बुरा-भला कहा जाय।

आप तुकान्त कविता का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करें, इसकी उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करें और विभिन्न राष्ट्रों के साहित्य में इसका आविर्भाव कब और कैसे हुआ इसकी जाँच करें तो आपको मालूम हो जाएगा कि तुकान्त कविता का किसी भाषा में उस समय जन्म हुआ जब वह राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुँच कर अवनति की ओर गिरने लगा। इसके विपरीत स्वच्छन्द कविता को किसी देश में उस समय उन्नति प्राप्त हुई जब वह राष्ट्र उन्नति, वैभव और शक्ति के पथ पर अग्रसर हो रहा था, और जब उन्हें न केवल अपनी अभिलाषाओं में, वरन् अपनी

भाषा में और अपने काव्य में फैलाव, जोश और लचक की आवश्यकता थी। उस समय उनके साहित्य में वही चीज़ पैदा हुई जिसकी उनकी काव्य-भावना को आवश्यकता थी—अर्थात् अतुकान्त कविता। उदाहरण के तौर पर आप आर्यों के सुनहरी युग में ऋग्वेद से कालीदास तक के काव्य-साहित्य को लीजिये। उसमें सारी उच्च कोटि की कविता अतुकान्त है। उसके बाद तुकान्त और छन्द-बद्ध कविता का प्रचार हुआ। महारानी एलिज़ाबेथ के समय में, जबकि अंग्रेज़ी राष्ट्र एक विशाल साम्राज्य की नींव रख रहा था, शेक्सपियर जैसा प्रतिभाशाली कवि और नाटककार हुआ जिसकी अतुकान्त कविता आज भी अपना उदाहरण आप है। फिर वह युग आता है जब उन्नति कुछ समय के लिये रुक जाती है और लोगों का मन परम्पराओं और रीतिवाद की ओर अधिक झुक जाता है। इस युग में योरुप के काव्य-साहित्य में 'हीरोइक कपलेट' का प्रादुर्भाव होता है। यह छन्द हमारी 'ग़ज़ल' से मिलती-जुलती चीज़ है। उसके बाद एक युग फिर ऐसा आता है जिसमें अंग्रेज़ जाति विचारों और भावों के क्षेत्र में उन्नति की ओर बढ़ती है। उसमें शैले और कीट्स की अतुकान्त कविता उत्कृष्टता की चरम सीमा को छू लेती है। उसके बाद जब अंग्रेज़ जाति उन्नति के शिखर पर जा पहुँचती है और जब उससे और आगे बढ़ना सम्भव नहीं रहता तो टैनीसन की कविता पर-पुर्ज़े निकालना शुरू करती है। उस युग में अंग्रेज़ फिर रीति और

परम्परा के भक्त हो जाते हैं और कविता छन्द-बद्ध और तुकान्त हो जाती है।

प्राचीन रोम के उन्नति-काल में लैटिन कविता के सर्वोत्तम नमूने अतुकान्त कविता के रूप में मिलते हैं। यही हाल प्राचीन यूनानी काव्य-साहित्य का है, जिसे आज भी पाश्चात्य साहित्य का स्रोत और उद्भावक समझा जाता है।

रूस की क्रान्ति ने कविता को एक नया जीवन दिया और स्वच्छन्द और अतुकांत कविता के क्षेत्र में अत्यन्त उच्च कोटि के कवि उत्पन्न किये। इस क्षेत्र में आज भी 'मेकियाविस्की' की कोई तुलना नहीं कर सकता।

हिन्दुस्तान में 'ग़ज़ल' को उस समय सर्वप्रियता प्राप्त हुई जब मुग़लों का पतन प्रारम्भ हो चुका था। साधारणतया यही देखा गया है कि तुकान्त कविता किसी राष्ट्र के ठहरे हुए, रुके हुए, रीतिवादी युग में पनपती है। इसका कारण यह है कि ऐसे समय में लोगों में ऐश्वर्य और आराम-पसन्दी बढ़ जाते हैं। शासक-गण में तो विशेष रूप से आराम-पसन्दी बढ़ जाती है। कवि भी ऐसे समय में ऐसी रचनाएँ करने लगते हैं जिनको समझने के लिए और जिससे आनन्द उठाने के लिये अधिक विचार और मनन की आवश्यकता न पड़े। इसके लिए तुकान्त कविता सब से अधिक उपयुक्त है। क्योंकि उसमें लय होती है, वज़न होता है, ताल होती है, वही मिलते-जुलते शब्द निरन्तर आते चले आते हैं। ऐसी कविताओं को समझने के लिए मस्तिष्क पर अधिक ज़ोर

नहीं देना पड़ता । न सोचो, न समझो, बस सर धुनते जाओ ।

कुछ आलोचकों ने नए साहित्य और काव्य को यह कहकर रगेदा है कि इस प्रकार की कविता में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना नहीं हो सकती। परन्तु यह नितान्त असत्य है । अतुकान्त और छन्द रहित कविता में हर प्रकार के मानवीय भावों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है—चाहे उसमें आप परमात्मा की स्तुति कीजिये या उससे शिकायत कीजिये । ऋग्वेद के मंत्र और मिल्टन का काव्य-साहित्य इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं कि अतुकान्त कविता में गम्भीर से गम्भीर भावों की अभिव्यंजना हो सकती है। यही नहीं, प्रत्युत इस प्रकार की कविता-शैली ईश्वर-स्तुति और धार्मिक विचारों की अभिव्यंजना के लिये अधिक उपयुक्त है। और यह भी असत्य है कि तुकान्त और छन्द-बद्ध कविता में ईश्वर-स्तुति और आत्मिक विषयों का निरूपण अधिक अच्छी तरह हो सकता है। कविता तुकान्त हो या अतुकान्त, और चाहे छन्द-बद्ध हो या छन्द-मुक्त—दोनों में ईश्वर की स्तुति भी हो सकती है और उसे बुरा-भला भी कहा जा सकता है । परमात्मा और धर्म के सम्बन्ध में नए साहित्यकारों ने सदा तटस्थता का व्यवहार रखा है । वे जन-साधारण की भावनाओं का आदर करते हैं । उन्होंने सदा यह प्रयत्न किया है कि किसी की धार्मिक भावनाओं और मान्यताओं को ठेस न पहुँचे । प्रगतिवादी साहित्यकारों में आपको कदाचित् दो-चार ही नास्तिक मिलेंगे । अधिकांश प्रगतिवादी साहित्यकार ईश्वर-भक्त और

धार्मिक विचारों के लोग हैं। और जो लोग नास्तिक हैं वे भी इतने धार्मिक अवश्य हैं कि वे मानवता के प्रेमी हैं। वे मानव-समाज में न्याय चाहते हैं, प्रेम चाहते हैं, समानता चाहते हैं और चाहते हैं कि मनुष्य का व्यवहार और चरित्र ऊँचा हो। वे चाहते हैं कि सारी मानव-जाति ज्ञान और विद्या के प्रकाश से देदीप्यमान हो। ये लोग परमात्मा की अपेक्षा परमात्मा की सृष्टि की भलाई की ओर अधिक ध्यान देते हैं। उनके आदर्श और विचार वही हैं जो सारे धर्मों का सार हैं। इस दृष्टि से ये लोग सच्चे धर्म और ईश्वर के विरोधी नहीं कहे जा सकते। हाँ, अन्ध-विश्वासों और बुद्धि से परे की बातों के ये लोग अवश्य विरोधी हैं, और उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं के ये लोग कट्टर विरोधी हैं जो धर्म के नाम पर पूँजीपतियों के परमात्मा की दुहाई देकर जनता को धोखा देते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। ऐसे व्यक्तियों और संस्थाओं का सदा विरोध होता रहेगा। नए साहित्य के सेवकों को अच्छी तरह पता है कि इस सिलसिले में उन्हें जनता की तथा प्रत्येक धर्म के सच्चे अनुयायी की सहानुभूति एवं सहकारिता प्राप्त है।

नये साहित्य में एक बात की अवश्य कमी है। नव साहित्य में 'रस' की कमी है। इसकी रचनाओं में ऐश्वर्यवाद नहीं है। इसमें एक प्रकार की आतुरता है, एक प्रकार का विषाद है। जो व्यक्ति अपने दैनिक जीवन से उकता कर एक नया जीवन और आनन्द प्राप्त करने के लिये पुस्तकों की शरण लेता है, उसे

नए साहित्य को पढ़कर निराशा ही का सामना करना पड़ता है। यह साहित्य उसे फिर इसी संसार में घसीट लाता है और अपने चारों ओर की स्थिति पर विचार करने के लिये विवश करता है। यह साहित्य पाठक के लिए 'भागने' का रास्ता नहीं छोड़ता। यदि आप इन्हें साहित्यिक दोष मानें तो निःसन्देह ये दोष नए साहित्य में विद्यमान हैं। इसका मूल कारण यह है कि जब तक संसार के ऐश्वर्य, आराम और आनन्द एक छोटे से वर्ग तक सीमित हैं और जनता का अधिकांश भाग इनसे वंचित है, प्रगतिवादी साहित्य इस विषमता को अनुभव और व्यक्त करता रहेगा और हर समय आपका ध्यान इसकी ओर आकर्षित करता रहेगा। नया साहित्य शीश महल की उपज नहीं है, यह उस खाई की आँख है जो इस शीश महल के चारों ओर खिंची हुई है और जो खाई से दूसरी ओर के, छोटे-छोटे झोंपड़ों में रहने वाले, साधारण लोगों को इस महल में आने से रोक रही है। इस खाई में महल का सारा कूड़ा-करकट गिरता है। इसीलिये इस खाई की सांस गंदी है, इसका रूप भौंडा है और इसके माथे पर कीचड़ लिपटी हुई है। यह आँख जो कुछ देखती है वही हमारे नए साहित्य में व्यक्त हो जाता है। परन्तु यदि हम नए साहित्य का विहंगम दृष्टि से अध्ययन करें तो आप अनुभव करेंगे कि यह आँख केवल निराशा और गिरावट के दृश्य ही नहीं देखती, केवल दरिद्रता और दुखों के बादलों को ही नहीं देखती, वरन् इन घटाओं के परे क्षितिज पर

उस चाँदी की लकीर को भी देखती रहती है जो जीवन के लिए एक नया मार्ग है, एक नई प्रेरणा है, एक नया निमन्त्रण है, जो मानव के दुःखों को कम करने का आश्वासन देती है और सृष्टि में पहली बार सामूहिक एवं सम्मिलित प्रसन्नता, सन्तोष और सुख की नींव रखती है। नया साहित्य मानव जीवन के गहन और भीषण अन्धकार में तारों की जगमगाती ज्योति का सन्देश दे रहा है।

पथ-प्रदर्शन

१०.

मनुष्य ने अपनी प्रतिभा और परिश्रम से आज कला और साहित्य को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया है। उसने सहस्रों नवीनताएं उत्पन्न करके उसको नित्य नए रूप प्रदान किये हैं। साहित्य मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं की उपज है। वह कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वरन् मानव-समाज की मूल आवश्यकताओं को पूरा करने वाली वस्तुओं में से एक है। साहित्य जीवन की ठोस, मूल प्राकृतिक आवश्यकताओं से जितना अधिक बंधा हुआ रहेगा, वह उतना ही अधिक लाभदायक, उतना ही अधिक सुन्दर होगा।

आज जब प्रगतिवादी साहित्य ने देश के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है तो हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये कि जीवन की क्या मूल आवश्यकताएँ हैं, लोग क्या चाहते

हैं, और जो वे चाहते हैं उसे पूरा किया जा सकता है या नहीं। यदि उसे पूरा किया जा सकता है तो किस तरह। इससे पहले कि हम इन समस्याओं पर विचार करना आरम्भ करें, हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि 'लोगों' से हमारा क्या तात्पर्य है। 'लोगों' से हमारा तात्पर्य केवल प्रगतिवादी लोगों से है या इस क्षेत्र से बाहर के भी कुछ लोग हैं जिनके सांसारिक जीवन की अभिव्यक्ति हमें करनी है और जिनका नेतृत्व हमें करना है। इससे पहले हमारी मुख्य भूल यह नहीं थी कि हमने साहित्य को सामाजिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति का साधन नहीं बनाया था। अवश्य बनाया था। परन्तु हम इस उद्देश्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को अच्छी तरह नहीं समझ सके। दूसरे शब्दों में हम यह ठीक तौर पर नहीं समझ सके कि जो लोग भारत में बसते हैं, जो दिन-रात परिश्रम करते हैं, खेतों, कारखानों, दफ्तरों, शिवालयों और दुकानों में काम करते हैं वे लोग क्या चाहते हैं। ये सब लोग कहने को तो हमारे निकट थे, परन्तु वास्तव में ये हमसे बहुत दूर रहे। हमने उनके जीवन को ध्यान से नहीं देखा, उनके दुखों-संकटों को नहीं चखा। उनकी पीड़ा हमारी रगों में नहीं समा सकी। यह पीड़ा महान् साहित्यिक रचनाओं का सृजन करा सकती थी और इसी पीड़ा को हमारे आन्दोलन की मुख्य प्रेरक बनना चाहिये था।

हमें आज गम्भीरता से यह सोचना चाहिये था कि जन-साधारण कौन हैं। क्या जन-साधारण केवल हम प्रगतिवादी

साहित्यकार हैं या हमारे अतिरिक्त भी कोई और लोग हैं जिनके विचार और आदर्शों के दृष्टिकोण हम से भिन्न हैं। यह बात स्पष्ट है कि हम प्रगतिवादी साहित्यकार भारतीय जनता का एक बहुत छोटा-सा भाग हैं। भारतीय जनता में सारे परिश्रम एवं मजदूरी करने वाले लोग सम्मिलित हैं जो जीवित रहने के लिये और जीवन की मूल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये दिन-रात काम करते हैं। उनमें किसान भी हैं, मजदूर भी हैं, विद्यार्थी भी हैं, दुकानदार भी हैं और दफ्तरों में काम करने वाले भी हैं। जब हम प्रगतिशील-साहित्य सम्मेलन के कार्य पर विचार करते हैं तो एक बुनियादी और महत्त्वपूर्ण कमी को अनुभव करते हैं। आज सहस्रों ऐसे साहित्यकार और कलाकार हमारे क्षेत्र से बाहर हैं जिनकी नीयतें अच्छी हैं। उनसे बहुत सी बातों में हमारा मतभेद है और हो सकता है कि भविष्य में यह मतभेद रहे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे भारतीय जनता के भावों और इच्छाओं को नहीं समझते और अपनी रचनाओं में उनकी अभिव्यक्ति नहीं करते। या यह कि उनका जनता पर प्रभाव नहीं है। यदि आज हम भारत के नये साहित्य और सांस्कृतिक जीवन का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें सैकड़ों ऐसे व्यक्ति दृष्टिगोचर होंगे जिन का दृष्टिकोण बड़ा स्वस्थ है, या कम से कम पर्याप्त मात्रा में स्वस्थ है। इन सब को भारतीय जनता की उन्नति और लाभ के लिए और नए साहित्य को उन्नत और पुष्ट बनाने के लिये एक स्थान पर एकत्रित किया जा सकता है। एक ऐसी वृहत् सभा

बनाई जा सकती है जिसमें ये सैंकड़ों कलाकार और साहित्यकार अपने-अपने विशिष्ट एवं विभिन्न विचारों, धारणाओं और योजनाओं को लिये हुए आयेंगे। प्रगतिवादियों को ऐसी वृहत् सभा का विरोध नहीं करना चाहिये वरन् स्वयं आगे बढ़कर ऐसी सभा को स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। उसमें स्वयं सम्मिलित होकर वे उनका नेतृत्व करें। हमें अपने परामर्श से, अपनी मति की पुष्टता तथा अपनी रचनाओं की उत्कृष्टता से दूसरे लोगों को उचित प्रशिक्षण देना चाहिये और उनका ठीक-ठीक मार्ग-दर्शन करना चाहिए ताकि हम उनके कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें और वे भी हमारे कंधों का बोझ न बन सकें।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस वृहत् सभा की रूप-रेखा क्या हो। इस सम्बन्ध में मैं कहता हूँ कि उसके बाह्य और अन्तर में आज भी वे शारीरिक आवश्यकताएँ बंधी हुई मिलेंगी जिनके सम्बन्ध में मैं पहले लिख चुका हूँ। भारतीय जनता की मूल-आवश्यकतायें क्या हैं? वे हैं—

खाना;

कपड़ा;

घर;

मानव-जीवन के अस्तित्व के लिये नए जीवन की सृष्टि;

मानव-ज्ञान, अनुभव और उसकी वैज्ञानिक उन्नति की रक्षा तथा उस दिशा में प्रगति जिसमें आगे बढ़ते हुए मनुष्य अपने प्राकृतिक बन्धनों को काटता जाए।

सब से पहले खाने की समस्या को लीजिये । आज भारत में अन्न की समस्या सब से जटिल है । नगरों में राशन के कारण इस समस्या के महत्त्व से नगर-निवासी भली प्रकार परिचित हैं । लोग कम से कम यह अवश्य जानना चाहते हैं कि इस समस्या का वास्तविक स्वरूप क्या है, और इसका किस प्रकार हल हो सकता है । प्रकट है कि इस पर भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हो सकती हैं । कुछ प्रगतिवादी लोग यह समझते हैं कि भारत में कृषि-सम्बन्धी क्रांति लाए बिना—अर्थात् सारी धरती किसानों में बांटे बिना इस समस्या का हल नहीं हो सकता । कुछ लोग यह समझते हैं कि बाहर से प्रतिवर्ष अन्न मंगवा देने से और अपने सरकारी बजट में थोड़ी सी हेरा-फेरी करने इस समस्या का हल हो सकता है । कुछ लोग जागीरदारी का अन्त कर डालने के पक्ष में हैं । इसके विपरीत कुछ लोग जागीरदारी को पूर्णतया समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं । वे उनकी शक्ति और सत्ता कम करने के पक्ष में हैं ताकि वे जनता पर अधिक अत्याचार न कर सकें । कुछ लोग जागीरदारी को मुआवजा देकर समाप्त करना चाहते हैं । कुछ लोग जागीरदारों से दान के रूप में धरती लेकर उसे किसानों में बाँटना चाहते हैं । कुछ लोग कहते हैं कि सहकारिता की प्रणाली से कृषि करने से, किसानों का ऋण समाप्त करने से तथा किसानों को ट्रैक्टर और अच्छे बीज देने से इस समस्या का हल हो जायेगा । इन भिन्न-भिन्न विचारों के लोग—चाहे वे हमारे साथ मिलकर काम कर रहे हैं और चाहे वे हमारे क्षेत्र से

बाहर हैं—कम से कम एक बात में सहमत हैं। और वह बात यह है कि यह समस्या महत्त्वपूर्ण है और इसका किसी न किसी तरह हल होना चाहिये। प्रगतिवादियों का जो दृष्टिकोण है, उनकी जो युक्तियां हैं, जो विचार-धारा है वह इस तरह से दूसरे लोगों का मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है कि वे प्रगतिवादी लोग इन सब भिन्न-भिन्न विचारों के लोगों को एकत्रित करें और अपनी उत्तम युक्तियों, उत्तम विज्ञान, सिद्धान्तों, बुद्धि, कार्य-प्रणाली और अनुभव की रोशनी में उन्हें इस समस्या का ठीक हल बताएं। उन्हें अपना हल इन लोगों पर बलपूर्वक नहीं ठोसना चाहिये। उन्हें चाहिये कि वे इन लोगों को समझाएं और उनका ठीक-ठीक मार्ग-प्रदर्शन करें। मार्ग-प्रदर्शन अपने घर के द्वार बन्द करने से नहीं होता।

इसी भूल का यह परिणाम है कि हमने भारत की मुख्य समस्या को—जो वास्तव में कृषि-समस्या है—अपने साहित्य और कला में उचित स्थान नहीं दिया है। भारत की जनता का अधिकांश भाग सामन्ती कृषि से बंधा हुआ है। हमारी अधिकांश जनता गांवों में रहती है। वहां पर दो बड़े तथ्य हैं—एक जागीरदारी एवं जमींदारी, जिसके साथ-साथ किसानों की विवशता, दरिद्रता और अज्ञानता हैं; और दूसरा जागीरदारों और जमींदारों के विरुद्ध नये किसान का खड़े हो जाना है। नया किसान पिछले बीस-तीस वर्षों में इस लड़ाई को बहुत आगे बढ़ा ले गया है। इसके ज्वलन्त उदाहरण आपको मालाबार, तिलंगाना, आन्ध्र,

बलिया तथा कई अन्य प्रान्तों और स्थानों में मिलेंगे। इन्होंने गत भारतीय चुनावों में जो कार्य किया है उस से भारतीय इतिहास पर निःसन्देह गहरा प्रभाव पड़ेगा। परन्तु यदि आप इन्हीं वर्षों के साहित्य का दिग्दर्शन करेंगे और दूसरी ललित कलाओं पर दृष्टिपात करेंगे, तो आप को मालूम होगा कि हमारे साहित्य और कला में उपरोक्त दोनों तथ्यों की अभिव्यक्ति नहीं है। न ही इसमें इस बात पर पूरा प्रकाश डाला गया है कि जागीरदारी सिस्टम क्या है और इसकी जड़ें कहां पर हैं और इसके दोष क्या हैं। न ही इस बात का वर्णन मिलता है कि जागीरदारी के विरुद्ध भारतीय किसानों ने कैसी-कैसी शानदार लड़ाइयां लड़ी हैं। मिटती हुई व्यवस्था की अन्तिम सांसें और उठती, उभरती हुई नई व्यवस्था का आलोक हमारे साहित्य में दुष्प्राप्य है।

हमारी संस्था पर उपरोक्त बात का प्रभाव इस तरह भी पड़ता है कि प्रगतिवादी साहित्यकार परिषद् का कार्य शहरों तक ही सीमित होकर रह गया है। दिल्ली, अलीगढ़, कलकत्ता, बम्बई, ट्रिवैंड्रम आदि हमारी परिषद् के कार्य-केन्द्र सब शहर ही हैं। बलिया, सीतापुर हमारे कार्य-क्षेत्र में क्यों नहीं आते? हम लोग देहात से अलग-थलग अपने सुन्दर विचारों और सिद्धान्तों की चार दीवारी में बन्द एक काल्पनिक क्रान्ति के फीके, बेजान गीत गाते रहते हैं। यही कारण है कि जन-साधारण पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे न कृष्णचन्द्र की बातों समझते हैं, न

अली सरदार जाफरी की, न सुमित्रानन्दन पन्त की, और न मुल्कराज आनन्द की। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे लोग अपना काम करना छोड़ दें और देहातों में घुस जाएं। इसका अर्थ यह है कि जब हम अपनी इस कमी को महसूस करेंगे और अपनी पिछली कार्य-शैली पर दृष्टिपात करेंगे तो फिर हम स्वयं उस बड़ी परिषद् में उन सारे देहाती कवियों, रास-धारियों, नाटक खेलने वालों, कथाकारों और नर्तकियों को सम्मिलित कर लेंगे जो देहातों में रहने के कारण वहां के सांस्कृतिक जीवन का अधिक सुगमता से पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। इनमें से बहुत से कलाकार पुराने ढर्रे के धर्म-बन्धनों में बंधे हुए चलेंगे। परन्तु इसकी ओर ध्यान न देकर हमें उनकी कला से और उनके भारतीय देहातों के साथ सम्पर्क से लाभ उठाना चाहिये। उनके पास बड़े सुन्दर साधन हैं। उन साधनों का प्रयोग करके हम अपने आन्दोलन को एक दम कई पग आगे बढ़ा देंगे। इस तरह हमारे परिषद् की सैंकड़ों शाखाएं अपने आप गांव-गांव में खुल जाएंगी—विशेषकर उन प्रान्तों में जहां के किसानों ने अपने उद्यम और साहस से अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिये अपनी लड़ाइयां स्वयं लड़ी हैं। इन लोगों के सम्मिलित होने से हमारे परिषद् की विचार-धारा पर और उसकी कार्य-शैली पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

खाने के बाद कपड़े की समस्या को लीजिये। मैं मानता हूँ कि हमारे साहित्य में कपड़े के सम्बंध में लिखा जाता है। परन्तु

साधारणतया यह रेशम, अतलस और कम्ख्वाब की सूरत में होता है। परन्तु अभी इस कपड़े का हमारी जनता के लिए एक स्वप्न से अधिक अर्थ नहीं है। आज हमें इन कपड़ों की आवश्यकता नहीं है, वरन् तन ढाँपने के लिये, बच्चे के शरीर की रक्षा करने के लिये, सर्दी से बचने के लिये और स्त्रियों की लाज ढकने के लिये मोटे, खुरदरे और पक्के धागे के कपड़े की आवश्यकता है। ऐसे कपड़े को हमारे साहित्य और कलाओं में बहुत कम स्थान मिलता है। जब हम इस कपड़े को अपने साहित्य में स्थान देंगे तो हमें विवश होकर उस वर्ग के सम्बन्ध में लिखना पड़ेगा जो कारखानों में दिन-रात परिश्रम करके इसे तैयार करता है और जिसे मजदूर कहते हैं। जब हम मजदूर के सम्बन्ध में लिखेंगे तो उसका कारखाना भी हमारी रचनाओं में आएगा और कारखाने की पूरी कार्य-शैली, व्यवस्था और कार्य-क्रम, कारखानेदार पूंजीपति के जीवन पर भी प्रकाश डाला जाएगा। इन दोनों वर्गों का नैसर्गिक विरोध, और इनके भेद का ठीक रूप जनता के सामने पेश किया जाएगा। फिर क्रान्ति की भावना का विवरण भी आएगा और वह क्रान्ति कैसे आएगी, इस विषय की विवेचना भी होगी। जब हम मजदूर के सम्बन्ध में लिखते हैं तो हम केवल समाज की मौजूदा आकृति तक ही नहीं पहुँचते, वरन् उसकी आने वाली आकृति की भी रूप-रेखा देखते हैं। आज के जीवन की जो मूल आवश्यकताएं हैं उन्हें यही वर्ग अपने परिश्रम से पूरा करता है—केवल कपड़ा ही नहीं वरन् आप

के घर भी। और इस घर के अन्दर रखी हुई अनेक वस्तुएं भी यही लोग तैयार करते हैं। आप कोई एक घर ले लीजिये और उसके अन्दर की कोई चीज़ लीजिये—बरतन, साबुनदानी, दान्त का ब्रश या मंजन, पाउडर, पलंग, चित्र, पुस्तक इत्यादि। आप अनुभव करेंगे कि आज के जीवन और उसकी रचना में मजदूर की महानता का और उसके भविष्य में समाज की उन्नति का कितना बड़ा हाथ है। हम इसलिये बार-बार मज़दूर-मज़दूर चिल्लाते हैं कि हमारी शारीरिक आवश्यकताएं पूरा करने में हर जगह उसका हाथ काम कर रहा है। इसलिये हमें अपने साहित्य में उसको स्थान देना पड़ेगा—उसकी नई स्थिति को, उसकी आवश्यकताओं को, विचार-धारा को, आदर्शों को। जिस दिन भारत में स्वर्गीय तिलक की गिरफ्तारी पर बम्बई के मजदूरों ने लड़ाई लड़ी थी, उस दिन से लेकर आज तक जिस तरह मज़दूरों की लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं वह हमारे समाज और उसकी चेतना का अंग बन चुकी हैं।

इसी क्षेत्र में मध्यम वर्ग का जीवन भी आ जाता है—उनका दैनिक जीवन, उनकी विभिन्न समस्याएं, इनकी अभिलाषाएं और आदर्श और स्वप्न। इसी वर्ग में हमारे अधिकांश साहित्यकार, दफ्तर में काम करने वाले और विद्यार्थी भी सम्मिलित हैं। जब हम इस तरह अपने परिषद् के क्षेत्र को इन लोगों के लिये विस्तृत कर देंगे और जब हम इनके सामूहिक प्रयत्नों और सम्मिलित आदर्शों की अपने साहित्य में अभिव्यक्ति करेंगे तब हम वास्तव

में भारत की विभिन्न संस्कृतियों को एक वृत्त में ला सकेंगे और समाज का ठीक पथ-प्रदर्शन कर सकेंगे।

फिर हम प्रगतिवादियों को यह नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय जनता संसार की जनता का एक भाग है। भारत की जो समस्याएं हैं वे अन्य देशों में भी हैं। कई देशों में हमारे ही सामने वे समस्याएं हल कर ली गई हैं। हम उनके अनुभवों से लाभ उठाएंगे। जिन देशों में ये समस्याएं हल नहीं हुई हैं वहां जनता के साथ मिलकर हम उन समस्याओं को हल करेंगे और उन शक्तियों के विरुद्ध लड़ेंगे जो इतिहास के मार्ग में रोड़ा बनी हुई हैं।

फिर जब हम मानव-जीवन को पुनर्जीवित होते देखेंगे तो हम न केवल प्रेम और सौन्दर्य की कहानियां लिखेंगे वरन् हम यह भी देखेंगे कि किस तरह आज मानव-जीवन पर परमाणु बम अपना घातक वार करना चाहता है; किस तरह लाखों आदमी एक क्षण में केवल एक बम से मौत के घाट उतारे जा सकते हैं। और जब हम जीवन पर मृत्यु को मंडराते हुए देखेंगे, जब हम यह देखेंगे कि मनुष्य की सारी सभ्यता और संस्कृति, उसका ज्ञान-विज्ञान, उसके घरों और नगरों को मृत्यु अपना ग्रास बनाना चाहती है तो समझदार और अच्छे मनुष्यों की भांति हम अपने आपको मृत्यु से बचाने के लिए युद्ध के विरुद्ध और शान्ति के पक्ष में खड़े हो जाएंगे ताकि जीवन में नया सौन्दर्य आ जाए और वह सूर्य ~~उदय हो जाए जिसकी प्रभात हो चुकी है।~~